वर्ष ४४] * * * [अङ्क १०

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

संस्करण १,६५,०००

विषय-सूची

कल्याण, सौर कार्तिक, २०२७, अक्टूबर १९७०

चित्र-सूची

वार्षिक मूल्य भारतमें ९.०० विदेशमें १३.२५ (१५ शिलिंग)

जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण प्रति भारतमें ५० पैसे विदेशमें ८० पैसे (१० पेंस)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी एम्० ए०, शास्त्री

मुद्रक-प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर
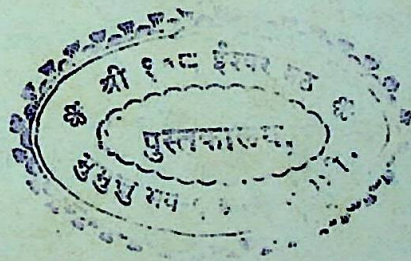
भगवान् विष्णु

देवाधिदेव भगवन् कामपाल नमोऽस्तु ते । नमोऽनन्ताय शेषाय साक्षाद् रामाय ते नमः ॥
नमः श्रीकृष्णचन्द्राय परिपूर्णतमाय च । असंख्याण्डाधिपतये गोलोकपतये नमः ॥

वर्ष ४४ } गोरखपुर, सौर कार्तिक, विक्रम संवत् २०२७, अक्टूबर १९७० { संख्या १० पूर्ण संख्या ५२७

भगवान् विष्णु

दिव्य ज्योतिमण्डल उद्भासित किरणें छिटक रहीं सब ओर ।
द्वादश दल शुभ कमल, उसीमें शोभित श्री-सुषमा सिरमौर ॥
कमल मध्य सुविराजित सुर-ऋषि-मुनि-आराध्य विष्णु भगवान ।
चिदानन्दमय नीलमेघ-तन पीताम्बरधर वर द्युतिमान ॥
दिव्य मुकुट कुण्डल कौस्तुभमणि मुक्ता-रत्न सुशोभित हार ।
चक्र सुदर्शन, गदा, शंख, सरसिज भूषित विशाल भुज चार ॥
मधुर हास, मुखकमल मनोहर, नेत्र सुधावर्षी सुविशाल ।
जयति जयति जय अखिल भुवनपति, तिलक तिमिरहर भ्राजत भाल ॥

याद रक्खो—हिंसा तीन प्रकारसे होती है—स्वयं करे, दूसरेसे कहकर करवाये, कोई हिंसा करता हो तो उसका समर्थन करे। इसीके तीन नाम हैं—कृत, कारित और अनुमोदित। फिर वह तीन करणोंसे होती है—मनसे, वचनसे, क्रियासे—मानसिक, वाचिक, शारीरिक। मनसे किसीका भी, किसी प्रकारसे भी तथा किसी प्रकारका भी अहित-अनिष्ट, ह्रास-विनाश चाहना मानसिक हिंसा है; वाणीसे बोलकर किसीके अहित-अनिष्ट, ह्रास-विनाशकी बात कहना वाचिक हिंसा है और अपने शरीरके द्वारा किसीका अहित-अनिष्ट, ह्रास-विनाश करना शारीरिक हिंसा है।

याद रक्खो—हिंसा महापाप है। जो मनुष्य मन, वाणी, शरीरसे कृत-कारित-अनुमोदित किसी भी प्रकारकी हिंसा करता है, उसे मरनेके पश्चात् बहुत लंबे समयतक भीषण नरक-यन्त्रणाका भोग करना पड़ता है और स्थूल योनि प्राप्त होनेपर भाँति-भाँतिके स्वेच्छा, परेच्छा और अनिच्छासे प्राप्त भयानक क्लेश भोगने पड़ते हैं।

याद रक्खो—हममेंसे कोई भी मनुष्य अपना अहित-अनिष्ट—किसी प्रकारका भी कुछ भी नुकसान होना नहीं चाहता और यदि कोई दूसरा हमारा नुकसान करता है तो हमें बड़ा दुःख होता है। इसी प्रकार हम जब किसी दूसरेका नुकसान करते हैं, तो उसे भी बड़ा दुःख होता है और हमारे मनमें जैसे हमारा नुकसान करनेवालेको उसका दण्ड मिले ऐसी सहज इच्छा होती है, ऐसे ही दूसरेके मनमें भी हमारे द्वारा उसका नुकसान होनेपर हमें भी दण्ड मिले, ऐसी इच्छा होती है। यों द्वेष, वैर, हिंसा बढ़ते रहते हैं और परिणाममें हमें भीषण दुःख भोगने पड़ते हैं। अतएव मनसे न किसीका कभी बुरा मनाओ—न चाहो; वाणीसे बोलकर कभी बुरा न करो और शरीरसे भी किसीको किसी प्रकारका जरा भी नुकसान न पहुँचाओ।

याद रक्खो—किसीके अनिष्ट होनेकी भगवान्से प्रार्थना करना भी हिंसा है। अतएव भगवान्से यही प्रार्थना करो कि वे हिंसक मनुष्योंकी हिंसा-वृत्तिका ही नाश कर दें; उनके हृदयमें सबकी भलाई, सबका हित तथा सबकी सेवा करनेकी इच्छा उत्पन्न कर दें।

याद रक्खो—श्रेष्ठ मनुष्य वही है, जो दूसरेका भला करनेके लिये सब तरहका त्याग सहर्ष स्वीकार करता है। अतएव ऐसे श्रेष्ठ मनुष्य बनो।

याद रक्खो—जो लोग मांस, मछली, अंडे आदि खाते हैं, खानेका प्रचार करते हैं, इसमें लाभ मानते-बताते हैं, मांस-उत्पादनार्थ पशु-पक्षी, मत्स्यपालन तथा उनके वधकी योजना बनाते हैं, वध करते-कराते हैं, खरीद-बिक्री करते हैं, इससे आर्थिक लाभ उठाते हैं, प्रोत्साहन देते हैं—वे सभी हत्यारे और हिंसक हैं। एवं इसके फलस्वरूप उन्हें भयानक नरक-यन्त्रणा और बुरी-बुरी योनियोंमें दुःख-दुर्गति भोग करनी पड़ेगी।

याद रक्खो—मांस आदिके व्यापारकी तरह ही पशु-पक्षी आदि जीवोंके अङ्गोंका, चमड़े आदिका व्यापार करनेवाले भी उनकी हिंसामें कारण बनते हैं। दवा आदिमें प्रयोग करने तथा जाँच आदिके लिये अनुसंधानशाला बनाने-बनवानेवाले भी हिंसाके प्रत्यक्ष पापी होते हैं।

याद रक्खो—जो मांस खाते हैं, वे स्वयं बड़ा पाप तो करते ही हैं, उनकी बुद्धि तामसी होती है, उनको भाँति-भाँतिके रोग होते हैं, उनकी वंशपरम्परा तामसी तथा क्रमशः दुःख-यन्त्रणा भोगनेवाली बन जाती है। पापका फल तो बाध्य होकर भोगना पड़ता ही है। अतएव हिंसाकारक मांसके मानसिक-वाचिक-शारीरिक सम्पर्कसे सदा बचे रहो।

'शिव'
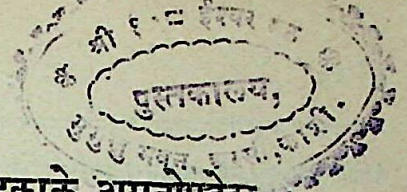
ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके अमृतोपदेश

[पुराने सत्सङ्गसे]

आज ही हमारी मृत्यु हो गयी तो ?

वर्तमानमें जैसी हमारी स्थिति है, अथवा अबतक जैसे आयु बीती है, उसपर विचार किया जाय तो लगता है कि अभीतक जो हम साधन करते आये हैं, उसी तरह साधन करते रहेंगे तो पता नहीं, कबतक भगवत्प्राप्ति होगी। स्पष्ट है कि जिस प्रकारसे हम साधन करते हैं, उसी प्रकार करते रहे तो इस आयुमें हमारा कल्याण नहीं हो सकता। बिल्कुल ही सम्भावना नहीं है। तो फिर क्या करना चाहिये ? साधन वेगसे करना चाहिये और उस तेज साधनके लिये अपने आपको बलिदान कर देनेके लिये भी तैयार रहना चाहिये। सोचना चाहिये—आज हमारी मृत्यु हो गयी तो हम तो मारे गये न। समझ-बूझकर भी मारे गये।

मनुष्यसे इतर कोई भी ऐसी योनि नहीं है, जिसमें आत्माका कल्याण हो सके और मनुष्य-शरीर बार-बार मिलना कठिन है। मृत्यु होनेपर न इस शरीरसे सम्बन्ध रहता है, न इसके सम्बन्धियोंसे। इसलिये शरीर एवं उसके सम्बन्धियोंसे अभीसे अपना बिल्कुल सम्बन्ध न समझे। जो भगवत्-मार्गमें बाधा डाले, वह सभी कुछ अहितकर है।

परमात्माकी प्राप्तिके लिये यदि शरीरको धूलमें भी मिलाना पड़े तो खुशीके साथ वह बात स्वीकार कर लेनी चाहिये। जैसे मकानके बाहर पग पोंछनेके लिये पाँवदान रहता है, अपनेको उसीके समान समझना चाहिये। सबके चरणोंकी धूल होकर रहे। इस प्रकारका भाव न हो पाये, तो जितनी हो सके अहंकारमें कमी तो होनी ही चाहिये।

मनसे, वाणीसे, शरीरसे—भगवान् मानकर दूसरे प्राणियोंकी सेवा हो, यही वास्तवमें अपनी कमाई है और दूसरेका अहित ही अपने लिये पतन है। जो कुछ अपना है, उसे दूसरोंके हितके लिये लगा दिया जाय, यही अपना स्वार्थ है। यह बात समझमें आ जाय तो सेवासे ही कल्याण हो जाय। परमात्माकी प्राप्तिमें भाव प्रधान है। भगवान् विद्या नहीं देखते; वे तो केवल-मात्र भाव देखते हैं। किसी भी प्रकारसे अपने तो यह कार्य सिद्ध करना है—यह बात समझमें आ जाय तो कल्याण हो सकता है। फिर हमारी प्रत्येक चेष्टा इसकी सिद्धिके लिये ही होगी।

सब रूपोंमें एक ब्रह्मको ही देखें

शास्त्रोंमें एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण साधन बताया गया है। यदि वह समझमें आ जाय तो समझमें आनेके साथ ही भगवान्‌की प्राप्ति हो जाय। साधनाकी भी जरूरत नहीं, बस, उसका रहस्य यथार्थरूपसे समझमें आ जाना चाहिये। वह साधन है—'जो कुछ है, ब्रह्म है।' अतएव इन्द्रियोंद्वारा जिस किसी वस्तु—भावका ग्रहण होता है, उसमें अनुभव होना चाहिये कि 'ब्रह्मका संस्पर्श' हो रहा है।

रासमें भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके साथ सखियाँ हाथ पकड़कर नृत्य करती हैं। उस समय प्रत्येक सखीको क्या प्रतीत होता है ? हाथसे हाथ पकड़े हुए दोनों ओर भगवान् श्रीकृष्ण खड़े हैं। बायें, दाहिने—दोनों तरफ श्रीकृष्ण ही श्रीकृष्ण हैं। इसी प्रकार जहाँ नेत्रोंकी वृत्ति जाय, वहाँ श्रीकृष्णके सिवा दूसरी वस्तु न दीखे। रास्ता चलनेमें वृक्ष मिलें तो उन्हें हम भगवान् ही समझें। भगवान्‌की प्रत्यक्ष प्राप्ति होनेके बाद जो स्थिति हो, वही स्थिति वृक्ष-पशु-पक्षीके दीखनेपर हो ! जैसे

नेत्रोंपर हरा चश्मा चढ़ानेसे सारी चीजें हरी दीखने लग जाती हैं। इसी प्रकार 'हरि'का चश्मा लगानेपर उसकी वृत्तिमें केवल 'हरि' ही रह जाते हैं।

भगवान् छद्मरूप धारण कर सखीरूपमें गोपियोंसे मिलते हैं, किंतु वे जब पहचानती हैं कि ये श्रीकृष्ण हैं तो कितनी प्रसन्न होती हैं। ब्रह्मा-मोहलीलामें बलदेवजी भगवान्‌की लीला देखकर चकित हो गये। भगवान् श्रीकृष्णने रहस्यकी बात बतायी कि 'ब्रह्माजी बछड़ोंको चुरा ले गये, इसलिये मैं ही एक अनेक रूपोंमें यहाँ स्थित हूँ।' अब बलदेवजी बाहरकी दृष्टिसे बछड़े, ग्वाल-बाल देख रहे हैं, पर भीतरका प्रत्यक्ष भाव है कि एक श्रीकृष्ण ही अनेक रूपोंमें यहाँ बने हुए हैं। इसी प्रकार भाव बदलनेके साथ ही जो भी चीज दृष्टिगोचर हो, उसमें साक्षात् पूर्णब्रह्म परमात्मा दीखें। पशुके रूपमें, वृक्षके रूपमें, मनुष्यके रूपमें—सभी रूपोंमें वे ही हैं। जो प्रसन्नता एवं शान्ति भगवान्‌के मिलनेपर हो, वही उन सबके मिलनेपर हो। बहुरूपिया सिंहका रूप धारण करके आये, उसे पहचान लेनेपर कोई शङ्का नहीं रहती। इसी प्रकार भगवान्‌को जाननेपर कोई शङ्का नहीं रहती। वृक्ष, पशु, पक्षी, मनुष्य आदिको देखनेपर उसे वैसी ही प्रसन्नता, रोमाञ्च होता है, जैसा भगवान्‌के दीखनेपर; क्योंकि उसकी दृष्टिमें तो वे सब साक्षात् भगवान् ही हैं।

प्रत्येक कामको भगवान्‌का काम समझकर करें

काम करते समय प्रतिक्षण भगवान्‌को अपने पास अनुभव करना चाहिये और समझना चाहिये कि जो कुछ हम कर रहे हैं, वह भगवान्‌का ही काम है। भगवान्‌की आज्ञा समझकर काम करनेमें खूब उत्साहित होना चाहिये। जैसे लोभी आदमी रुपये कमानेके काममें बड़ा प्रसन्न होता है, वैसे ही प्रत्येक कामको भगवान्‌का काम समझकर करे। उस कामके करनेमें प्रसन्नता होनी चाहिये। काम करते-करते कभी अघाये नहीं। बड़े उत्साहके साथ, दिलचस्पीके साथ काम करे। जैसे कोई भगवान्‌का भक्त भगवान्‌के दर्शन, भाषण, वार्तालापसे प्रसन्न हो जाता है, उसी प्रकार इस कामको भगवान्‌का काम समझकर क्षण-क्षणमें प्रसन्न होना चाहिये।

सर्वदा भगवान्‌के गुणोंको याद करके मन्त्रमुग्धकी तरह मस्त रहना चाहिये। अपने सिरपर भगवान्‌का हाथ है, यह समझना चाहिये। जैसे पतिव्रता स्त्री अपने पतिकी सेवा करके, भक्त महात्माकी सेवा करके खूब आनन्दित होता है, वैसे ही प्रत्येक कामको भगवान्‌की सेवा समझकर क्षण-क्षणमें मुग्ध होना चाहिये।

विनय क्या चीज है, बर्ताव क्या है—इन सब आदर्शोंको क्रियामें लाकर दिखा देना चाहिये। अपना व्यवहार देखकर मनुष्यकी तो बात ही क्या, देवता भी प्रसन्न हो जायँ—ऐसा व्यवहार करना चाहिये। दूसरेका हित ही परम धर्म है, यह लक्ष्यमें रखकर उल्लासके साथ दूसरोंका हित-सम्पादन करे। बड़े प्रेमके साथ सबके साथ सद्व्यवहार करे। सबको नारायण समझकर और नारायण हमारे प्रत्येक कृत्यको देख रहे हैं, यह समझकर सबकी सेवा करनी चाहिये। चाहे शरीर मिट्टीमें मिल जाय; चाहे चना खाकर जीवन व्यतीत करना पड़े, पर बड़ी कुशलता और प्रसन्नताके साथ ऐसा कार्य कर;आदर्श दिखाना चाहिये कि भगवान् प्रसन्न हो जायँ।

संसारमें ऐसा कोई काम नहीं, जो मनुष्य न कर सके। परमात्माकी प्राप्ति भी मनुष्य कर सकता है, फिर और बाकी ही क्या रहा? अपने साथ कोई ईर्ष्या-द्वेष रखता हो तो उसे प्रसन्न करनेके लिये उसके चरणोंकी धूलि बन जाना चाहिये। भगवान् अपनी सेवासे उतने प्रसन्न नहीं होते, जितना अपनेसे दुर्व्यवहार

करनेवालेके साथ अच्छा व्यवहार करनेसे होते हैं। जो मान-बड़ाईके लायक नहीं हैं, उन्हें भी मान-बड़ाई देकर आनन्द लूटना चाहिये। वही पुरुष संसारमें धन्य है, जिसके गुणोंकी प्रशंसा शत्रु भी करे।

मान-बड़ाई-प्रतिष्ठासे सावधान रहें

मान-बड़ाई-प्रतिष्ठा—तीनों एक ही जातिकी चीजें हैं। इनमें प्रशंसा-कीर्तिका त्याग होना बहुत कठिन है। कीर्तिसे अपकीर्तिमें निरपेक्ष रहना और भी कठिन है। भगवान्‌ने यह बात बतलायी है कि मान-अपमानमें, निन्दा-स्तुतिमें जो सम है, वह मेरा भक्त है। **'अमानी मानदो मान्यो'**—यह भगवान्‌के नामोंमें आया है। मानके लायक न होनेपर भी वे दूसरेको मान देते हैं। मानका न चाहना उत्तम है। यह बात विचारने-सुननेमें आती है; पर इसे ठीक न समझते हुए भी हम मान चाहते हैं। इन सबमें हेतु अज्ञान है। अज्ञानका परिहार ज्ञानसे होता है। ईश्वरकी कृपासे, विवेकसे उसका नाश होता है।

मान-बड़ाईकी इच्छा अपनेको श्रेष्ठ माननेसे ही उत्पन्न होती है। हम अपनेको श्रेष्ठ मानते हैं, इसीसे जब दूसरे हमें श्रेष्ठ नहीं मानते तो हमें दुःख होता है। अपनेको श्रेष्ठ मानकर लोगोंसे मान-प्रतिष्ठा एवं श्रद्धाकी आशा रखना बहुत नीचा भाव है। इससे ऊँचा भाव यह है कि वह दूसरोंसे मान-प्रतिष्ठाकी इच्छा नहीं करता, पर अपने मनमें अपनेको श्रेष्ठ अनुभव करता है। इससे ऊँचा भाव है कि वह स्वयं अपनेको श्रेष्ठ नहीं मानता, पर जब दूसरे उसे श्रेष्ठ बताते हैं, तो उसे वह अच्छा लगता है। इससे ऊँचा भाव है कि वह न तो स्वयं अपनेको श्रेष्ठ मानता है और न दूसरोंके द्वारा श्रेष्ठ कहे जानेपर प्रसन्न होता है, पर भीतरी मनमें यह वृत्ति आती है कि जब सभी मुझे श्रेष्ठ बताते हैं तो शायद मैं श्रेष्ठ होऊँ। इससे भी सूक्ष्म उच्च भाव यह सोचना है कि लोग बिल्कुल झूठी प्रशंसा करते हैं और लोगोंके द्वारा अपनी प्रशंसा सुनकर वह संकुचित होता है, पर संकुचित होकर भी वह प्रशंसाको सहन कर लेता है। इससे आगे बढ़नेपर प्रशंसाके शब्द प्रिय नहीं लगते। इससे आगे बढ़नेपर प्रशंसाके शब्द सुनते ही वह वहाँसे उठकर चला जाता है। आगे चलकर वह हृदयसे चाहता है कि लोग मान-बड़ाई न करें, तो अच्छा है। वह मान-बड़ाई करनेवालोंसे कहता भी है—'दूसरी बात कीजिये, परमात्माकी प्रशंसा कीजिये।' इससे आगे बढ़नेपर वह मान-बड़ाईका प्रसंग आते ही रोने लगता है और भगवान्‌से रो-रोकर इससे बचनेकी प्रार्थना करता है—'हे नाथ! मुझे बचाओ।' यह सर्वश्रेष्ठ भाव है। किंतु जबतक यह भाव उदय न हो, तबतक साधकको मान-बड़ाईसे बहुत सावधान रहना चाहिये।

भगवान् एक हैं, अनेक नहीं

मेरी समझमें तो 'अल्ला-खुदा' के नामसे भगवान्‌का उच्चारण करनेवाले भी भगवान्‌की ही उपासना करते हैं। एक आदमी परमात्माकी 'गॉड' नामसे उपासना करता है, दूसरा 'अल्ला-खुदा' नामसे और कोई 'हरे राम····सीताराम' आदि नामोंसे भगवान्‌का कीर्तन करता है तो हमें समझना चाहिये कि तीनों ही भगवान्‌के उपासक हैं। मुसल्मानोंमें अपने मतको न माननेवालोंके प्रति जो 'काफिर' का भाव है तथा कथित मुसल्मान धर्मके नामपर जो लूट-खसोट, स्त्रियोंका अपहरण आदि करते हैं इसमें मेरा घोर विरोध है। यह सर्वथा अनाचार है—फिर चाहे यह हिंदुओंमें हो, चाहे मुसल्मानोंमें हो। पर भगवान्‌की उपासना जो अल्ला-खुदाके नामसे होती है, वह तो हमें उतनी ही प्रिय लगनी चाहिये, जितना हमें 'हरे राम'का कीर्तन सुननेमें प्रिय लगता है।

एक ब्राह्मण संध्या-गायत्री छोड़ देता है। वह धर्मसे

बहिर्मुख हो जाता है । दूसरी ओर एक मुसल्मान नित्य नियमित नमाज पढ़ता है । हमें उसे अच्छा समझना चाहिये; क्योंकि वह धर्मपालन कर रहा है । प्रत्येक धर्ममें जो-जो बातें सदाचारके अनुकूल हैं, उनका आदर करना चाहिये । मुसल्मान-धर्ममें भी बड़े ऊँचे आदर्श हैं । हमारे शास्त्रोंने जितना मदिराका विरोध किया है, उससे भी अधिक कुरानशरीफ़में मदिराका विरोध है । उसमें लिखा है—'जहाँ मदिराकी बूँद पड़ गयी, वह अङ्ग इतना अशुद्ध हो गया कि उस अङ्गके चमड़ेको उधेड़ डालो ।' हाँ, उसमें कई स्थल ऐसे हैं, जिनसे हमारी सहमति नहीं है । ऐसी ही बात अन्य धर्मग्रन्थोंके सम्बन्धमें भी है । पर इतना होते हुए भी हमें सब धर्मोंके प्रति आदरभाव रखना चाहिये । भगवान् एक हैं, अनेक नहीं ।

धर्मके उपादान

(लेखक—अनन्तश्री स्वामीजी श्रीअखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज)

धर्मका मूल सच्चिदानन्द अद्वय आत्मा ही है; क्योंकि औपनिषद-दृष्टिसे उसके सिवा दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं । इसीसे धर्म साधन तो है ही; सिद्धके जीवनमें भी अनुगत रहता है । उदाहरणके लिये पृथक्-पृथक् विचार कीजिये—

(१) **आत्मा सत् है**—इसका अर्थ है, वह है, रहता है और रहेगा । मरा, न मर रहा है, न मरेगा । इस सिद्धान्तका फल यह निकलता है कि न हम मरें, न मारें, अर्थात् न अपनी मृत्युसे डरें और न दूसरेको डरायें । अपने लिये निर्भयता और दूसरेके लिये अभयदान—यह आत्मसत्ताके ज्ञानका प्रथम फल है ।

आत्मसत्ताके ज्ञानका दूसरा फल यह है कि हम जीते आये हैं, जी रहे हैं और जियेंगे । अबतक यदि मृत्युने हमारा स्पर्श किया होता तो हम आज न होते। जीना सहज स्वभाव है और मरना आगन्तुक एवं कल्पित । इससे यह धर्म निकलता है कि हम जियें और जिलायें । इसका सार यह है कि सबको, जिसमें अपना आपा भी सम्मिलित है, अन्न, वस्त्र, आवास, औषध प्राप्त होना चाहिये । इन्हें उपार्जन करनेके लिये श्रम करना, असमर्थोंको प्राप्त कराना और अन्य महत्त्वपूर्ण कार्य—जैसे चिन्तन, विद्या, समाधि एवं संरक्षणमें लगे लोगोंके भरण-पोषणकी व्यवस्था करना इसमें सम्मिलित है ।

(२) **आत्मा चित् अर्थात् ज्ञानस्वरूप है**—इसका अर्थ यह है कि वह अज्ञानस्वरूप नहीं होता । सारी इन्द्रियों और वृत्तियोंका उपसंहार हो जानेपर भी, वह समाधि, मूर्च्छा, सुषुप्तिमें—उन-उन अवस्थाओंको प्रकाशित करता रहता है । यदि आत्मा ज्ञानस्वरूप न हो तो 'सुषुप्ति' नामकी कोई अवस्था होती है—यह किसीको ज्ञात न हो । 'मैं अज्ञ हूँ'—यह भी ज्ञात ही होता है । ऐसी वस्तु-स्थितिमें आत्माका अज्ञानके साथ कोई मेल नहीं है । इसमेंसे यह धर्म निकलता है कि न हम अज्ञानी रहें और न किसीको अज्ञानी बनायें । नासमझ रहना, बेवक़ूफ़ बनना और ठगा जाना अधर्म है, साथ ही किसीकी नासमझीसे लाभ उठाना, किसीको बेवक़ूफ़ बनाना और ठगना भी अधर्म है । अपने ज्ञानस्वरूप होनेका पहला फल यही है ।

अपने ज्ञानस्वरूप होनेका दूसरा फल यह है कि हम अन्तःकरण—व्यक्तिसे तादात्म्य करनेपर भी जानते

हैं, जानते रहते हैं, और-और जानना चाहते हैं। इसका अर्थ है कि हमें ज्ञान-वृद्धिके लिये प्रयास करना चाहिये और दूसरोंके ज्ञानका संवर्द्धन भी करना चाहिये। अपने ज्ञानकी स्फुटता और सबके लिये ज्ञानका दान जीवके लिये सहज स्वभावप्राप्त धर्म है। पशु-पक्षी भी ज्ञान प्राप्त करते हैं और अपने बच्चोंको शिक्षा देते हैं। ऐसी स्थितिमें शिक्षण, प्रशिक्षण, विद्या-दानकी व्यवस्था, पुस्तकालय, वाचनालय, सत्सङ्ग-सत्र आदिका आयोजन भी धर्म है अपने लिये और सबके लिये। विशेष-विशेष ज्ञान, अर्थात् विज्ञानकी उपलब्धियोंके लिये अनुसंधानशाला, प्रयोगशाला भी होनी चाहिये। अतीत ज्ञान अर्थात् ऐतिहासिक ज्ञानसे शिक्षा प्राप्त करना, वर्तमान परिस्थितिका ज्ञान रखना और भविष्यकी योजना बनाना भी धर्मका अङ्ग है। प्राणिविज्ञान, समाजविज्ञान, राजनीति, अर्थशास्त्र—सबका इसीमें समावेश है। निर्विशेष, निराकार, शुद्ध तत्त्वका ज्ञान प्राप्त करना भी आवश्यक है। उससे बुद्धिका एकाङ्गी झुकाव दूर होता है। विशेष ज्ञान, सामान्य ज्ञान और समन्वय ज्ञानके बिना मनुष्यका जीवन संतुलित नहीं हो सकता। भिन्न-भिन्न विषयोंका ज्ञान तो कहीं भी प्राप्त हो सकता है, परंतु जो निर्विषय ज्ञानका तात्त्विक रूप है, वह केवल वीतराग तत्त्वज्ञानी महात्माओंसे ही प्राप्त हो सकता है। उसके लिये व्यवस्था करना भी धर्म है। शरीरकी भीतरी वस्तुओंको जानना 'अध्यात्म-ज्ञान' है। ब्रह्माण्डकी संचालन-प्रक्रियाको समझना 'अधिदैव ज्ञान' है। भूत-भौतिक वस्तुओंको समझना 'आधिभौतिक ज्ञान' है। सबसे विलक्षण अद्वितीय आत्माको जानना 'परमार्थ ज्ञान' है। आत्माके ज्ञानस्वरूप होनेके कारण सब कुछ जानना और उसके लिये सुविधा प्राप्त करना-कराना सहज धर्म है।

(३) आत्मा आनन्दस्वरूप है—यह बात अपने प्रति मुख्य प्रियता अनवरत सिद्ध करती रहती है। सब कुछ शेष है, आत्मा शेषी। हम दुःख पसंद नहीं करते, नहीं चाहते। दूसरे भी दुःख पसंद नहीं करते, नहीं चाहते। जैसे शरीरके भीतर एक काँटा गड़ जाय या आँखमें कोई बालूकण पड़ जाय तो उस विजातीय द्रव्यको शरीर और आँख सहन नहीं करते हैं, उसी प्रकार आत्माके लिये दुःख एक विजातीय द्रव्य है और शक्तिभर उसके निवारणके लिये प्रयत्न भी किया जाता है। अपने आनन्दस्वरूप होनेसे यह धर्म निकलता है कि हम कभी, कहीं, किसी कारणसे दुखी न हों और दूसरेमें दुखीपनेका अभिमान जाग्रत् न करें। हम दुखी हैं या तुम दुखी हो—ये दोनों ही बातें आत्मामें विजातीय द्रव्यका आरोप करके कही जाती हैं। अतः दुखी होना और दुखी बनाना—दोनों ही अधर्म है और हमारे आत्माके स्वभावके प्रतिकूल हैं। आनन्दस्वरूप आत्माका यह प्रथम धर्म है।

आनन्दस्वरूप आत्माका दूसरा धर्म यह निकलता है कि वह सर्वदा, सर्वत्र, सर्वथा—हर हालमें सुखी रहे और दूसरोंको सुखी रक्खे। हम सुखी रहना चाहते हैं, सब सुखी रहना चाहते हैं। जैसे सुख मिले, वैसे सुखी हों—ज्ञानसे, ध्यानसे, विश्रामसे, भगवत्प्रेमसे, धर्माचरणसे, नृत्यसे, नाट्यसे, गानसे, वाद्यसे, अभिनयसे, त्यागसे, संग्रहसे—कैसे भी मनुष्यको सुख प्राप्त होना चाहिये। सुख पाना धर्म है, सुख देना धर्म है। वह जितना नित्य होगा, जितना अनायास होगा, जितना ही दूसरोंको दुःख पहुँचाये बिना होगा, जितना व्यापक होगा और जितना अन्यनिरपेक्ष होगा, उतना ही श्रेष्ठ होगा। सुखमें और उसके साधनमें जितना-जितना आत्माका सामीप्य होता है, उतना-उतना स्थायित्व और

सूक्ष्मता होती है। अपने-अपने सम्प्रदायमें जो लोग सुखका जो-जो आकार बना लेते हैं, उन्हें उसीमें सुखी होने देना चाहिये। उसमें बाधा डालनेका कोई कारण नहीं है। भले ही वह कल्पना हो, भाव हो, चेष्टा हो, कर्म हो, सम्बन्ध हो या द्रव्य हो। वस्तुतः सुख अपना स्वरूप है और जिसपर हम अपने मनका हाथ लगा देते हैं, वही सुखरूप हो जाता है। सभी प्राणियोंका, कीट-पतंगोंका भी अपना-अपना सुख है; उसमें बाधा न डालना, सुविधा उत्पन्न करना धर्म है।

(४) **आत्मा अद्वय है**—इसका निष्कर्ष यह निकलता है कि भेद-भाव करना और कराना अज्ञान-मूलक भ्रान्ति है। इसी भ्रान्तिके कारण अपना-पराया, ऊँच-नीच, शत्रु-मित्र, राग-द्वेष, वैमनस्य-संघर्ष, कलह एवं युद्धकी सृष्टि होती है। इसी द्वैत-भ्रमके वशीभूत होकर सच्चे ज्ञानका आदर न करके अर्वाचीन-प्राचीन-का झगड़ा खड़ा कर देते हैं। झूठी भौगोलिक सीमाएँ खींच-खींचकर प्रान्त, राष्ट्र, द्वीप आदि बना लेते हैं और उनके लिये लड़ते हैं। जातीयता, वर्गवाद, प्रान्तीयता, भाषाभेद—सब इसीकी देन है। आत्मसत्य अद्वय है। इसमें द्वैत-भ्रम मिटानेके लिये साधनके रूपमें द्वैतको स्वीकार करना दूसरी बात है और द्वैत, दुःख, मूर्खता एवं भयको बढ़ाना दूसरी बात। स्वयं भेद-भ्रान्तिमें फँसकर इन दुःखोंको बढ़ाना अधर्म है और दूसरोंको इसके लिये बढ़ावा देना भी अधर्म है। आत्माके अद्वय होनेका प्रथम निष्कर्ष यह है कि स्वयं भेद-भावसे मुक्त रहकर दूसरोंको भी भेद-भावमें न डाले।

आत्माकी अद्वयताका दूसरा निष्कर्ष यह है कि अपने आत्माके अतिरिक्त दूसरी कोई वस्तु नहीं है, अर्थात् सब अपना आत्मा ही है। अपने आत्माके रूपमें भासनेवाली वस्तुमें जितना प्रेमभाव, आत्मरूपता और आत्मीयता रहती है, उतनी ही पराये रूपमें भासनेवालोंके प्रति भी होनी चाहिये। अपने हृदयमें सबके प्रति प्रीति रहे और दूसरोंके हृदयमें मेल-मिलाप, आत्मीयताकी वृद्धि हो—यही मनुष्यका धर्म है। इस अद्वयतामें नासमझी, अभिमान, राग-द्वेष, भय—सबकी निवृत्ति हो जाती है। इसका व्यावहारिक पक्ष यह है कि जैसे अपने प्रति की हुई चोरी, हिंसा आदि बुरी लगती है और स्तुति, सम्मान आदि अच्छे लगते हैं, वैसे ही दूसरे शरीरमें बैठे हुए आत्मदेवको लगते हैं। इसीसे दूसरेके प्रति जो व्यवहार किया जायगा, वह अपने प्रति भी हो जायगा; क्योंकि आत्मा तो एक ही है।

यह सामान्य धर्मका आधार है। यही आत्मा विशेष धर्मका आधार कैसे बनती है? इसके लिये पृथक् विचार करना उचित होगा।

यही धर्म है

सबमें समझो एक आत्मा नित्य अभिन्न अमृत सत् अद्वय।
सबमें है वह सहज आत्मा पूर्ण ज्ञान-चिन्मयानन्दमय॥
जीवनकी सुविधा हो सबको, मिले सभीको ज्ञानानन्द।
कोई दुखी न रहें, सभी पायें सुख यथायोग्य स्वच्छन्द॥
यथाशक्ति यों सब जीवोंका करना सुखसम्पादन नित्य।
यही धर्म है, है अधर्म नित क्षुद्र अहं-गत स्वार्थ अनित्य॥

सत्संग-वाटिकाके बिखरे सुमन
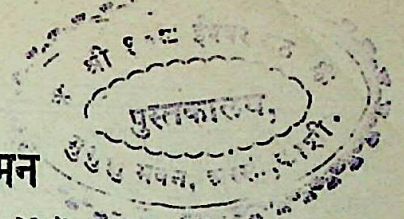
१–प्रियतम प्रभुके नाते ही सब नाते हैं। जो उनके हैं, वे हमारे भी हैं; जो उनके नहीं, उनसे हमारा क्या सम्बन्ध ?

२–साधकका सारा जीवन पवित्र सदाचारयुक्त होना चाहिये।

३–भगवन्नाम-जप करते समय उसे सुनता रहे। इससे मन उसमें लगाना पड़ेगा। बिना मन उसमें लगाये नाम सुन न सकेंगे।

४–मनमें यह विश्वास होना चाहिये कि नाम मानो भगवान् ही है। भगवान् जब हमारी जिह्वापर आ गये तो भगवान्‌के सारे दिव्य गुण हमारे अंदर आ गये। भगवान्‌के गुणोंको अपने अंदर उतरता देखे—करुणा, दया, प्रेम, अहिंसा, अस्तेय आदि गुण मेरेमें आ रहे हैं। नाम मुँहमें आते ही अपनेको माने 'मैं पवित्र हूँ'।

५–नाम-नामी एक हैं; अतएव भगवान्‌के नाम-जपके समय यह अनुभव करे कि भगवान् मेरे हृदयमें आ रहे हैं, भगवान्‌की झाँकी मेरे हृदयमें उतर रही है।

६–नामकी शरण हो जाय—दूसरे किसी साधनकी उपेक्षा एवं अपेक्षा न करे; भगवान्‌के नामपर अपनेको निर्भर कर दे। नाम सर्वशक्तिमान् है—यह विश्वास करके उसीपर निर्भर हो जाय। अर्थात् अपनेको उसपर छोड़कर निश्चिन्त हो जाय। अपना भला कब-कैसे होगा, इसके विषयमें निश्चिन्त हो जाय। शरणागत कुछ माँगता नहीं, वह कुछ चाहता नहीं; वह भगवान्‌पर ही निर्भर रहता है—सब प्रकारसे। अपना भला किसमें है, इसका निश्चय भी वह नहीं करता। वह भगवान्‌से कहता है—'मेरा भला किसमें है तथा कैसे उसे प्राप्त करना है—यह आप जानें। नाथ! आपकी शक्तिसे ही सब काम होगा और वही काम होगा, जो आप चाहेंगे।'

७–शरणागतको यह अनुभव होता है कि हम भगवान्‌के शरणागत अपने पुरुषार्थसे नहीं हुए, भगवत्कृपाका ही परिणाम है कि मेरा मन भगवान्‌पर विश्वास करके निश्चिन्त हो गया है।

८–मान-अपमान, निन्दा-स्तुति नाम-रूपकी होती है और इन्हींके नाते हम उन्हें ग्रहण करते हैं। शरीरमें, नाममें 'मैं' भाव है, इससे दुःख-सुख हो जाता है; पर वास्तवमें इनसे अच्छा-बुरा कोई परिणाम तो होता नहीं।

९–बुरे काम होते हैं—कामनासे और कामना उत्पन्न होती है शरीरमें 'मैं'पनेको लेकर शरीरकी आसक्तिसे। बुरा काम न करनेपर कोई बुरा कहे, उसकी हमें कुछ भी परवा नहीं करनी चाहिये। वास्तवमें कोई बुरा काम किसी भी अवस्थामें हमसे न हो, यह चेष्टा रखनी चाहिये।

१०–यह भाव पुष्ट करना चाहिये—'मैं भगवान्‌का सेवक—दास हूँ, मरनेपर भी उनकी सेवामें ही रहूँगा। भगवान् जो करायेंगे, वह करना है और भगवान्‌के लिये ही करना है। मैं तो भगवान्‌का सेवक हूँ, उनके ही समीप रहूँगा; मैं कभी उनकी सेवासे वञ्चित नहीं रहूँगा; क्योंकि मैं उनका हो गया हूँ।'

११–अपने-आपको भगवान्‌का सेवक बना दे। भगवान्‌का सेवक 'विषयका सेवक' नहीं होता। भगवान्‌का सेवक—गुलाम भगवान्‌के गोत्रका हो जाता है—'स्वामीको गोत-गोत होत है गुलामको' सेवककी सबके बन्धनसे मुक्ति हो जाती है। भगवान् उसके एक-एक कणके तथा क्षणके स्वामी हो जाते हैं। वह तो सदा, सर्वथा अपनेको भगवान्‌की सेवामें दे चुकता है।

१२–'मैं' जहाँ बीचमें आता है, वहाँ हम भगवान्‌के सेवक नहीं बन सकते हैं। 'मैं' को सर्वथा भूलकर ही भगवान्‌का सेवक बना जा सकता है।

१३–अपने जीवनके प्रत्येक कार्यको भगवान्‌की सेवाकी भावनासे करे। जब हम भगवान्‌का एकाधिपत्य स्वीकार कर लेंगे तो जगत्‌के विकार-विचार हमारे पास नहीं आ सकेंगे और यदि आयेंगे तो भगवत्सेवामें सहायक होकर।

१४–अनुकूल विषय न मिलनेपर चित्तमें जो क्षोभ होता है, इसका अर्थ है—हम विषयोंके गुलाम हैं।

१५–भगवान्‌के लिये रोनेवाला फिर विषयोंके लिये नहीं रोयेगा। और विषयोंके लिये रोनेवाला भगवान्‌के लिये नहीं रो सकेगा—यह नियम है। भगवान्‌के लिये रोना उसीको आता है, जो विषयोंके लिये नहीं रोता। भगवान्‌के लिये जो वास्तविकरूपमें रोने लगता है, उसका जगत् और उसके पदार्थोंके लिये रोना मिट जाता है।

१६–अपनेको भगवान्‌से बाँध ले, सम्पूर्ण ममताकी एक रस्सीसे। 'भगवान्‌के चरणकमल ही मेरे हैं और कुछ भी

मेरा नहीं'—ऐसा माननेवाला भक्त भगवान्‌के हृदयमें लोभीके धनकी भाँति बसता है—'लोभी हृदयँ बसत धन जैसे ।' जब हम अपने-आपको भगवान्‌को सौंप देते हैं, तब भगवान् अपने-आपको सौंप देते हैं हमको ।

१७–भगवत्सेवाकी भावना निरन्तर मनमें बनी रहे । अपने शरीरसे होनेवाली प्रत्येक चेष्टाको भगवान्‌की सेवा माने । पर यह भाव होना चाहिये—यथार्थ–सच्चा ।

१८–भगवान्‌का सेवक विषयोंको पराजित करके उनका नियन्त्रण करनेवाला, शासन करनेवाला और उनका यथा-योग्य भगवत्सेवामें उपयोग करनेवाला होता है; उनके द्वारा स्वयं नियन्त्रित, शासित नहीं होता और न उनके उपयोगमें ही आता है ।

१९–तीन चीजें साधनमें बड़ी विघ्न मानी गयी हैं—अर्थकी इच्छा, कामकी इच्छा एवं मानकी इच्छा ।

२०–जिसका अन्तर शुद्ध हो गया है, वही शुद्ध है; बाहरी शुद्धिके दिखावेसे कुछ बनता नहीं ।

२१–साधक अपने जितना जो कुछ है, उससे अधिक अपनेको कभी माने ही नहीं; बल्कि, जितना है, उससे कम माने । साधक निरन्तर अपनेको देखता रहे कि 'मैं कहाँ हूँ ?' अपने घरमें झाड़ू देता रहे वह, अपने घरको भगवान्‌के योग्य बनाता रहे वह ।

२२–भगवान्‌के शरणागत वह हो सकता है, जो सर्वथा अकिञ्चन तथा विश्वासी है ।

२३–'निर्बलके बल केवल राम' हैं—ऐसा विश्वास करके अपने-जैसा, जो कुछ हो, पतितपावन, दीनबन्धु, भगवान्‌की शरणमें अपनेको डाल दे । भगवान् दीन हीन, पामरकी अधिक सँभाल करते हैं । जगत्में देख लें—जहाँ माँ बच्चेको मलमें सना हुआ देखती है, वहाँ उसका हृदय और उमड़ता है कि जल्दी बच्चेका मल धोकर साफ कर दूँ । भगवान्‌का हृदय तो अनन्त-अनन्त माताओंके हृदयसे भी कहीं अधिक प्यारसे भरा है ।

२४–वस्तुमें ममत्व ही प्रधान दोष है । वस्तु छूट भी जाय तो उसके प्रति ममता-मोह जबतक नहीं छूटेंगे, तबतक दुःख रहेगा । ममत्वके कारण वस्तुके न मिलनेमें दुःख होगा, उसके जानेमें दुःख होगा । अतएव वस्तुके त्यागके साथ उसके प्रति ममत्वका भी त्याग होना चाहिये । राग-रहित, ममतारहित वस्तु रहे भी तो वह दुःखका हेतु नहीं बनती ।

२५–जगत्‌की ओर न देखो, दूसरोंके गुण-दोष दोनोंकी ओरसे उपराम हो जाओ, साथीकी प्रतीक्षा न करो और भगवान्‌का आश्रय करके निर्भय अपने पथपर बढ़ते चलो ।

२६–जगत्‌के लोग जिस त्यागीको निकम्मा समझें, वह बड़ा सौभाग्यशाली है; जगत्‌के लोग जिस भोगीको बड़ा समझें, ऊँचा समझें वह बड़ा अभागा है । वास्तवमें जगत्‌के लोगोंकी कसौटी भोग है, उनके मनमें त्यागका कुछ महत्त्व ही नहीं, पर भगवान्‌के यहाँ त्यागका ही महत्त्व है, भोगका नहीं ।

२७–वेषका कोई अर्थ नहीं होता, जबतक मनमें वह चीज न आवे । साधनाका अर्थ है—भीतरका बदल जाना, चाहे बाहरी वेष कैसा ही रहे ।

२८–अशान्ति और असुखका मूल है—कामना । कामना होती है विषयासक्तिसे और विषयासक्ति होती है विषयोंमें सुखकी आशासे । अतएव सबसे पहले इसी आशाको भङ्ग करना चाहिये कि 'विषयोंमें सुख है' ।

२९–संसारको न देखो, इसके अंदर स्थित या इसके रूपमें स्थित भगवान्‌को देखो और जो हो रहा है, उसे भगवान्‌की सौहार्दमयी लीला मानो ।

३०–जो मान-मोहसे अलग है, सङ्ग-दोषसे अप्रभावित है, कामनाओंसे विरत है, सुख-दुःखमें सम है तथा मनमें भगवान्‌से जुड़ा है—वह भगवान्‌का भक्त है । केवल भक्त कहलानेसे कोई भक्त नहीं हो जाता है ।

३१–जीवनका लक्ष्य भगवान् हैं और जीवनके सब व्यापार जीवन-निर्वाहके लिये हैं तथा जीवनके लक्ष्यको पूरा करानेके लिये हैं—इसे स्मरण रखते हुए जीवन-यात्रा पूर्ण करे । इसको भूलकर जो जीवन-यात्रा होती है, वह तो बन्धनकारी होती है ।

३२–प्रलोभन और भयसे भगवान्‌की कृपासे बचता चला जाय तो सीधा पहुँचता है लक्ष्यपर । प्रलोभन और भय तभीतक अपना प्रभाव दिखाते हैं जबतक हम भगवान्‌की कृपाका बल साथ अनुभव नहीं करते । जो भगवान्‌की कृपाको साथ अनुभव करके चलता है, भगवान् उसकी सँभाल स्वयं करते हैं ।

३३–भगवान्‌का मार्ग कठिन नहीं है । दूरसे देखने-

वालेको यह मार्ग कठिन अनुभव होता है, पर जो इसके अन्तरमें प्रवेश कर जाता है, उसको यह मार्ग परम सुखद अनुभव होता है। कंकड़, पत्थर, काँटे आदि तो जगत्के ही मार्गमें हैं। वास्तवमें भगवान्का मार्ग बड़ा ही सुकर एवं सुखद है।

३४–आत्मा कभी पापका समर्थन नहीं करती। या तो आत्मा स्तब्ध हो जाय या आत्माकी पुकारको न माने—इन दो परिस्थितियोंमें ही मनुष्य पाप करता है।

३५–अनुरक्ति और विरक्ति तो अपने मनमें रहती है। यदि अपने मनमें संसारसे—संसारके भोगोंसे विरक्ति है तो उसे कौन बाँध सकता है?

३६–भगवान्का स्मरण चार हेतुओंसे होता है—भय हो तो स्मरण हो; भोगकामना हो तो उसकी पूर्तिके लिये स्मरण हो, भगवान्में आसक्ति हो तो स्मरण हो या प्रीति हो तो स्मरण हो। इनमें प्रीतिका स्मरण सर्वश्रेष्ठ है। अतएव प्रीतिपूर्वक भगवान्का स्मरण हो–ऐसा अभ्यास बनाना चाहिये।

३७–आसुरी सम्पत्तिमें भोग-जीवनके अन्तिम श्वासतक चिन्ता बनी रहती है। सुख-शान्ति यदि कभी किसीको मिली है तो वह भगवान्से सम्पर्क होनेपर दैवी सम्पत्तिमें ही। अतएव भगवान्के साथ सम्पर्क कीजिये।

३८–सेवकका जीवन भगवान्का जीवन है। सेवक अपने लिये अलग कोई काम करेगा तो उतना समय वह सेवामेंसे ही तो निकालेगा। इसी प्रकार सेवक यदि मनमें सेवाकी अङ्गभूत किसी बातका विचार न करके अपनी कोई बात सोचता है, तो उतना समय वह सेवामेंसे ही तो लेता है। यह सेवकके लिये कलङ्क है।

३९–जिसको अपनी चिन्ता नहीं, उसकी चिन्ता भगवान्को करनी पड़ती है। भगवान् अपने सेवकको सब प्रकारसे निर्भय-निश्चिन्त बना देते हैं। उसका सब चिन्ता-भय भगवान् स्वयं ले लेते हैं।

४०–शान्ति प्राप्त करनी हो तो दोमेंसे एक काम करना होगा—(१) सारी कामनाओंको छोड़ दो अर्थात् मनमें किसी भी वस्तु-स्थितिकी अपेक्षा न रक्खो या (२) भगवान्को अपना परम सुहृद् मान लो और यह विश्वास रक्खो कि 'वे परम सुहृद् हमारे लिये जो-कुछ भी विधान करते हैं, वह हमारे लिये परिणाममें निश्चित-निश्चित परम मङ्गलमय है'।

४१–अनित्य, अपूर्ण, असुख और परिवर्तनशील जगत्के भोगोंसे कभी भी सच्ची शान्ति नहीं प्राप्त हो सकती। इस सत्यको जितनी जल्दी अनुभव कर लें, उतना ही भला है।

४२–'विषय-चिन्तन' के बदले 'भगवान्का चिन्तन' होने लगे—बस, यहींसे साधनाका आरम्भ होता है। जब कभी जीवनमें सुख-शान्तिको प्राप्त करनेकी सच्ची लगन होगी, तब इस मार्गमें लगना ही होगा; बिना ऐसा हुए सुख-शान्तिकी प्राप्ति होगी ही नहीं।

४३–भगवान्की प्राप्ति इच्छाका फल है। इच्छा प्रबल एवं अनन्य होनेपर भगवान्की प्राप्तिमें प्रारब्ध बाधक नहीं हो सकता। दूसरे, भगवान्की प्राप्ति इच्छाजनित होनेसे सभी समय तथा सभीको हो सकती है। अतएव भगवान्को प्राप्त करनेकी सच्ची, प्रबल एवं अनन्य इच्छा जाग्रत् कीजिये।

४४–मनुष्यको चाहिये कि वह हर अवस्थामें अपने आन्तरिक शुद्ध भावोंकी रक्षा करे। अन्तःकरणकी शुद्धिरूप सम्पत्ति बराबर बनी रहे। बाहरी अधिकार, बाहरी सम्पत्ति आन्तरिक सम्पत्तिको नहीं दे सकते।

४५–बुराईका किसीके जीवनमें एकाध बार आ जाना दुर्भाग्य नहीं है। यह तो प्रायः सभीके जीवनमें आती है। पर बुराईके प्रति कभी घृणा नष्ट न हो—बुराई जीवनमें टिके नहीं—इसके लिये बराबर सावधान रहना चाहिये।

४६–विपरीत प्रसङ्गोंमें अपनेको सँभालकर स्थिर रखना साधना है। जो वास्तवमें भगवान्का आश्रय करके अपने व्रतपर अटल रहना चाहता है, भगवान् उसकी रक्षा एवं सहायता करते हैं। अतएव भगवदाश्रयको जीवनमें पुष्ट कीजिये।

४७–जो अन्तर्मुख हैं तथा जो बहिर्मुख हैं—दोनोंके सामने प्रारब्धवश अनुकूल-प्रतिकूल बाहरी परिस्थितियाँ आती हैं। प्रतिकूलतामें बहिर्मुख व्यक्ति विचलित हो जाता है एवं बड़े दुःखका अनुभव करता है; पर अन्तर्मुखी व्यक्ति बाहरी परिस्थितियोंकी प्रतिकूलतामें बड़ा प्रसन्न होता है। धन, मान, गौरव, इज्जत, प्रतिष्ठा, आराम आदि जब उसके पाससे निकल जाते हैं, तब इनसे सम्पर्क रखनेवाले लोग भी उसको छोड़कर चले जाते हैं। उस अवस्थामें वह अन्तर्मुखी व्यक्ति बड़ी शान्ति, निश्चिन्तता तथा आश्वासनके जीवनका अनुभव करता है।

४८–साधक 'विषयी जनसमुदाय' तथा 'विषयों'से सर्वथा पृथक् रहना चाहता है और इसीमें अपना परम मङ्गल देखता है। वह इनसे निरन्तर डरता रहता है। वास्तवमें

जो अपना कल्याण चाहता है, वह विषयोंका सङ्ग तो करे ही नहीं, विषयोंके सङ्गियोंके सङ्गसे भी बचता रहे। वह प्रत्येक परिस्थितिमें अन्तर्मुखी वृत्ति रक्खे, बहिर्मुखी वृत्ति न करे—अन्यथा वह चोट खा जायगा।

४९—विधाताने इन्द्रियोंको बहिर्मुखी बनाया ही है। अतएव वे स्वभाववश भोगोंकी ओर जाती हैं। इसलिये बड़ी सावधानीसे, इनके साथ जबरदस्ती करके, इन्हें मोड़कर भगवान्‌की ओर लगाते रहना है।

५०—जब कोई भोग सामने आवे, जब किसी भोगासक्तिका मनमें उदय हो तो उसे वैराग्यरूपी दृढ़ शस्त्रसे नष्ट करता चले—तभी रक्षा हो सकती है; अन्यथा भोग अपना प्रभाव जमा ही लेते हैं।

५१—संसारमें व्यवहारके नाते भगवान् जो सद्बुद्धि दें, उसके अनुसार कार्य कर ले, पर मनको इसमें फँसावे नहीं। मन संसारमें फँसा कि नाना योनियोंमें भटकना निश्चित है।

५२—सारे प्रारब्धोंका नाश करके आज ही भगवत्प्राप्ति हो जाय—इसके लिये चाह होनी चाहिये तथा जीवन प्राप्त होनेसे पूर्व निश्चित होनेवाले भोगोंके प्रति मन निश्चिन्त हो जाना चाहिये—इसके लिये भगवान्‌से प्रार्थना करनी चाहिये।

५३—भूल रहती है स्वाश्रित, वह दूसरे आश्रयसे नहीं रहती। जहाँ मोह मिटा कि अपनी भूल समझमें आयी और भूल समझमें आयी कि भूल मिटी।

५४—जो व्यक्ति भगवान्‌का अस्तित्व मानता है, उससे छिपकर पाप नहीं हो सकते। उसका यह दृढ़ विश्वास होता है कि 'भगवान् सर्वत्र हैं, सर्वकालमें हैं, सर्वतश्चक्षु हैं'—ऐसी अवस्थामें वह छिपकर पाप कैसे कर सकता है? इसीसे आस्तिकको कभी भय नहीं होता तथा आस्तिकसे कभी छिपकर पाप नहीं होते।

५५—भगवान्‌के प्रति की जानेवाली प्रार्थनामें बड़ा बल है। जहाँ कोई भी उपाय काममें नहीं आता, वहाँ कातर प्रार्थना तत्क्षण फल दिखाती है।

आस्तिकताकी आधारशिलाएँ

जगत्‌के भोगोंको बटोरना छोड़कर अपना मुँह भगवान्‌की ओर कर लें

सोना जितना तपाया जाता है, उतनी ही अधिक उसकी उज्ज्वलता बढ़ती चली जाती है, उसकी शोभा निखरती चली जाती है। वैसे ही हम विपत्तिकी आगमें जितना अधिक तपते चले जायँगे, उतना ही अधिक हमारे भीतर जो भगवान्‌का दिया हुआ तेज है, वह प्रकट होता जायगा, हमारी निर्मलताका सौन्दर्य सबकी आँखोंको आकर्षित करने लगेगा। किंतु हमें घबराहट होती है। विपत्ति आनेकी आशङ्कासे हमारी नींद उड़ जाती है। विपत्ति तो आयेगी पीछे और आयेगी कि नहीं तथा आयेगी भी तो किस रूपमें—भारी या हल्की बनकर आयेगी—ये सब तो पीछेकी बातें हैं। हम तो विपत्तिकी आशङ्कामात्रसे अधमरे-से हो जाते हैं। ऐसा क्यों होता है? इसलिये कि जगत्‌में रचे-पचे रहकर, यहीं इसी जगत्‌के भोगोंमें ही हम निरन्तर सुख ढूँढ़ रहे हैं। पर यदि हम असली दृष्टिको अपना सकते—'हमें किधर जाना है', उसको याद कर सकते तो प्रत्येक विपत्ति—भारी-से-भारी विपत्ति—हमारे लिये स्वागतकी वस्तु बन जाती; विपत्तिकी आशङ्का हमारे मनमें उल्लासका, नवीन साहसका संचार कर देती।

किंतु अभी कुछ भी बिगड़ा नहीं है। सुबहका भूला हुआ यदि शामको भी घर पहुँच जाय, अथवा शामको भी घरकी ओर जानेवाली सड़कपर घरकी ओर मुँह करके दौड़ चले तो, बस, काम हो गया। वह तो घर पहुँच ही गया। और यदि सूर्य छिप गया है तो भी एक घड़ी रात जाते-न-जाते वह घर पहुँच ही जायगा; क्योंकि एक रक्षक उसके साथ छिपा हुआ निरन्तर चल रहा था, चल रहा है। जहाँ आवश्यकता होगी, वहीं वह उसे रोशनी दिखा देगा, अब आगे गड्ढेमें गिरनेसे बचा लेगा, जंगली जानवरोंको उसपर हमला नहीं करने देगा, दौड़नेके कारण जब उसे प्यास लगेगी तो बड़ा ही सुखद ठंढा पानी पिला देगा और थकान बढ़ जानेपर ज़रा-सा उसे छू देगा तथा इतनेमें ही उसकी सारी थकावट दूर होकर उसमें नवीन स्फूर्ति, नया बल आ जायगा।

ठीक ऐसे ही, अभी हमारे पास थोड़ा समय बच गया है। हम जगत्‌के भोगोंको बटोरना छोड़कर अपना मुँह

भगवान्‌की ओर कर लें, जो साधना संत-शास्त्र बताते हैं, उस पथपर चल पड़ें; तेजीसे दौड़ पड़ें तो सूर्य छिप भी गया तो अँधेरा होते-न-होते भगवान् हमें मिल जायँगे—जरूरत होते ही आवश्यकताभर प्रकाश हमें मिल जायगा; किसी भी पापके गर्तमें गिरनेसे बचा लिये जायँगे। हमें हानि पहुँचानेवाले हमारे पास फटकतक नहीं सकेंगे। कोई-सा दुःख—साधनके सम्बन्धको लेकर—होते ही हमें एक अद्भुत शान्तिका अनुभव करा दिया जायगा। और जब साधन-पथपर आगे बढ़नेमें असमर्थताका अनुभव करने लगेंगे तो उसी क्षण—एक प्रेमिल स्पर्शकी अनुभूति करा दी जायगी और हममें नया ओज, नयी ताकत आ जायगी।

दोषदर्शनकी वृत्तिको पूर्ण शक्ति लगाकर दबानेकी चेष्टा करें

जिस समय हम दूसरेका दोष देखने चलते हैं, उस समय हमें यह सोच लेना चाहिये कि हम अपने-आपको उसकी अपेक्षा बहुत अधिक ऊँचा और उस दोषसे शून्य अनुभव कर रहे हैं। यह ऐसी भ्रान्ति है, जो ऊँचे-से-ऊँचे साधकोंतकका पिण्ड नहीं छोड़ती। असली महासिद्धमें इस दोष-दर्शनकी वृत्तिका अत्यन्त अभाव होता है। और वह वृत्ति है इतनी गंदी कि साधकको परमार्थके साधनपथसे घसीटकर पीछेकी ओर नरकके गर्तमें प्रायः डाल ही देती है।

यह भी एक बड़े विचारनेकी बात है कि हम जिस दोषका दर्शन दूसरेमें कर रहे हैं, वह दोष यदि हममें नहीं होता, तो हमें वह दोष दूसरेमें दीखता ही नहीं, यह ऐसा सत्य है कि जिसका खण्डन हो ही नहीं सकता। यद्यपि बुद्धिवाद तो परमार्थ-सत्यको छू ही नहीं सकता, किंतु बुद्धिवादके तर्कोंको भी आगे चलकर इस प्रश्नपर स्वीकार कर ही लेना पड़ेगा कि हम जिस कूड़ेका अनुभव अन्यत्र कर रहे हैं, वह कूड़ा वस्तुतः हमारे ही अंदर है और उसीका प्रतिबिम्ब हम दूसरेपर डाल रहे हैं।

सामने एक व्यक्ति हमें दम्भी-पाखण्डीके रूपमें दीख रहा है। वहाँ सत्य तो यह है कि भगवान् विराजित हैं; किंतु उसके स्थानपर हमें अपने अंदर संचित कूड़ेका दर्शन हो रहा है। इतना ही नहीं, इस प्रकारके दर्शनकी प्रत्येक चेष्टा हमारे अंदर संचित कूड़ेके ढेरको निकालकर हमारे चारों ओर इकट्ठा कर देती है और इतनी दुर्गन्ध फैला देती है कि हम उस ओरसे आनेवाले भगवान्‌के सौरभको ग्रहण कर ही नहीं सकते। अपनी ही दुर्गन्धि हमें सत्यकी अनुभूतिसे दूर ले जाकर तरह-तरहका पाठ पढ़ा देती है और हम यह फतवा दे बैठते हैं कि 'अमुक तो ऐसा गंदा है, अमुक ऐसी गंदी है।' जिन्हें सत्यका अनुभव होता है, वे इस प्रकारका निर्णय कभी दे ही नहीं सकते; क्योंकि उनकी आँखमें बुरी-भली नामकी कोई भी वस्तु न रहकर एक भगवान्‌की सत्ता ही बच रहती है।

सच्चे संतके प्रति अपनी आसक्तिकी धाराको मोड़ दें

असली संतकी कोई बाहरी पहचान नहीं होती, किंतु जो सच्ची अभिलाषा लेकर भगवान्‌की ओर बढ़ना चाहता है, उसे भगवान् असली संतके पास पहुँचा ही देते हैं। स्वयं भगवान् ही संत बनकर उसके जीवनकी नाव पार लगाने आ जाते हैं। धोखा मनुष्यको वहीं होता है और इस कारणसे ही होता है, जहाँ अपना अहंकार लेकर मनुष्य चलता है और उनसे अपने मनकी इच्छाओंकी पूर्ति कराना चाहता है। इसका सीधा अर्थ यह है कि उसमें भगवान्‌की प्राप्तिकी सच्ची अभिलाषा नहीं है; क्योंकि भगवान्‌को प्राप्त करनेकी अनन्य तथा सच्ची लालसाका उदय होते ही तत्क्षण—तत्क्षण अन्य कोई भी कामना, जागतिक पदार्थकी उपलब्धिकी रञ्चकमात्र भी इच्छा रह ही नहीं जायगी और न अपनी विद्या-बुद्धिपर तथा अपने अंदर अच्छेपनका गर्व ही रहेगा। जहाँ ये दोनों चीजें हैं, वहाँ भगवान् तमाशा देखते हैं। अन्यथा, प्रथम तो उसे ले ही नहीं जायँगे, जहाँ वह मायाके प्रवाहमें फिर पड़ सकता है। और तो क्या, इसके लिये नवीन प्रारब्धका निर्माणतक हो जाता है। इसे भगवत्कृपाजनित प्रारब्ध कहते हैं और यह भगवत्कृपाजनित प्रारब्ध बीचमें ही, कर्मजनित प्रारब्धको स्थगित करके, फलोन्मुख होकर असली-संतके सम्पर्कमें ला ही देता है, जहाँ उनसे कभी धोखा होगा ही नहीं; और यदि कोई बुरे प्रारब्धवश ऐसे संयोगमें आ गया है तो उसकी अवश्य-अवश्य रक्षा कर ही लेंगे वे; किंतु करेंगे उसीकी, जिसमें एकनिष्ठ भगवत्प्राप्तिकी लालसा है और जो सच्ची-सच्ची दीनता लेकर चला है, चल रहा है।

ऐसा भी देखा जाता है कि असली संतके सम्पर्कमें आनेपर भी उनके निमित्तसे तो नहीं, अन्यके निमित्तसे

पतन हो जाता है। ऐसा क्यों होता है ? इसके तीन-चार कारण हैं। पहला यह है कि उस मनुष्यकी भगवत्प्राप्तिकी लालसा वैसी ही है, जैसे हम प्रदर्शनीमें गये और वहाँ चीजें खरीदने लगे—एक बढ़िया साड़ी खरीदी, दूसरी हाथी-दाँतकी एक चीज खरीदी, तीसरी अमुक, चौथी अमुक चीज—इस प्रकार सत्तानबे चीजें तो खरीदीं भोग-विलासकी और अट्ठानबे, निन्यानबे और सौवीं वस्तु खरीदीं—एक तुलसीकी माला, एक भजनकी पोथी और एक भगवान्‌का कोई चित्र, सो भी मनमें यह सोचकर कि हम अमुक संतके पास रहने लगे हैं, यदि ये तीन चीजें नहीं रखेंगे तो नक्कू बनेंगे; क्या कहेंगे वे लोग, जो उन संतके पास रहते हैं ? और जीवनमें अपना उद्धार कर लेना भी तो आवश्यक चीज है ही, इस दृष्टिसे भी एक सौमें तीन ऐसी चीज तो अपने पास जरूरी हैं ही। ठीक उसी प्रकार संतके, असली संतके पास रहकर भी हमारे मनमें भगवत्प्राप्तिकी लालसा इसी औसतकी प्रायः रहती है। दूसरा कारण है, मनमानी करनेकी प्रवृत्ति, संतकी आज्ञाओंका पूरा-पूरा निरादर करना और तीसरा कारण है, उनसे भी कपट करने लग जाना, उन्हें भी ठगनेकी-सी वृत्तिको अपना लेना। यदि ये तीनों कारण हमारे अंदर, हमारे लिये बिल्कुल ही लागू नहीं पड़ते तो किसी भी असली संतके सम्पर्कमें जानेके अनन्तर, अन्य किसीके निमित्तसे हमारा पतन नहीं होगा, नहीं होगा।

इसपर प्रश्न हो सकता है तो फिर क्या किया जाय ? तो इसका उत्तर है कि संतका ही सङ्ग करें, बस, सच्चे अर्थमें संतका ही अवश्य-अवश्य सङ्ग करें। सङ्गका अर्थ होता है—आसक्ति। हम किसी सच्चे संतके प्रति आसक्ति कर लें। असली संत किसे माना जाय ? संसारमें जिस व्यक्तिमें हमें दैवी सम्पदाके अधिक-से-अधिक गुण अभिव्यक्त दीखें, विकसित दीखें तथा जिनके सङ्गसे हमारे अंदर दैवी सम्पदाके गुण विशेषरूपसे बढ़ने लगें—उन्हींको हम असली संत मान लें और उनकी शरणमें जाकर उनके प्रति ही अपनी आसक्तिकी धाराको मोड़ दें। किंतु मोड़ सकेंगे तभी—जब हम अपने जीवनको इस साँचेमें ढालनेके लिये प्रस्तुत होंगे—

१—अपनी जानमें भगवत्प्राप्तिकी लालसाके अतिरिक्त अन्य सम्पूर्ण सांसारिक कामनाओंको सर्वथा विसर्जित करनेकी पूरी-पूरी चेष्टा करें।

२—इस प्रयासमें असफल होनेपर उनसे—चाहे, वह कामना कैसी भी हो—उनसे ही, लाज-संकोच छोड़कर बता दें। किंतु उन्हें बाध्य करनेकी भूल न करें। उनपर ही छोड़ दें; वे पूरी करें तो ठीक, नहीं तो ठीक। पर फिर उसके लिये दूसरेके आगे हाथ न पसारें।

३—उनकी प्रत्येक आज्ञाके पीछे, प्रत्येकके पालनमें पूरी-पूरी तत्परतासे काम लें। किंतु यह ध्यान रखना चाहिये कि असली संत कभी भी असद्-रूपात्मक आज्ञा देते ही नहीं। कभी हमें यह दीखे कि यह आज्ञा तो असत्-प्रेरणात्मक है तो उसका पालन कदापि न करें। वे उसके न पालनसे ही वस्तुतः प्रसन्न होंगे—यदि वे असली संत हैं तो।

४—मनमानी चेष्टा—साधनात्मक या व्यावहारिक—बिल्कुल न करें; जो भी करें, उनसे पूछकर करें।

५—उनसे कभी भी—स्वप्नमें भी, जाग्रत्‌की तो बात ही क्या है—कोई-सा, तनिक भी कपट न करें, न करें।

एक बात और याद रखनी चाहिये—असली संत पागल कुत्तेकी तरह होते हैं। पागल कुत्तेके काटनेपर उसके विषका असर तुरंत नहीं होता—उसके लिये कुछ समय अपेक्षित होता है। वैसे ही यदि तनिक-सी भी श्रद्धा लेकर, कभी भी, एक बार भी हम उनके दृष्टि-पथमें आ गये हैं तो उन्होंने भी अपनी अहैतुकी कृपासे परिपूर्ण आँखरूपी दाँतोंको हमारे तनमें, इन्द्रियोंमें, मनमें, बुद्धिमें, अहंतामें गड़ा ही दिया है। पागल कुत्तेका काटा हुआ व्यक्ति कालान्तरमें कुत्तेकी भाँति 'हू-हू' करने लगता है—यहाँ तो इसका इलाज भी सम्भव होता है। किंतु असली संतकी आँखोंसे निकलकर कृपाभरे दाँत जिसको छू गये हैं—वह देर-सबेर—संत बनकर ही रहेगा।

संतकी सात्त्विक आज्ञाओंके पीछे प्राणतक विसर्जन करनेके लिये प्रस्तुत रहें

जिसपर भगवान्‌की कृपाका प्रकाश हो जाता है, उसीको विशुद्ध सच्चे संतके दर्शन होते हैं, उसीको वे मिलते हैं। किंतु कभी-कभी ऐसा भी हो ही जाता है, नहीं-नहीं, प्रायः ऐसा ही हो जाता है कि जैसे किसी साग बेचनेवालीको हठात् कोई अनमोल हीरा मिल जाय, वैसे ही कोई हठात्—बिना

किसी प्रयासके, किसी परम विशुद्ध सच्चे संतके सम्पर्कमें आ जाय।

हम शायद सोच सकते हों कि 'मुझे तो परम विशुद्ध सच्चे संत अवश्य मिल गये हैं और मैं—मैं तो साग बेचनेवालीकी श्रेणीमें कदापि नहीं हूँ, जो अनमोल, कभी नहीं देखे हीरेकी कीमत नहीं जानती; मैं तो संत-महिमाको जानता हूँ, उसका उपभोग करता हूँ, संतका आदर करता हूँ; मेरा जीवन तो उनके लिये ही, उनपर ही न्योछावर हो चुका है।' बस यहीं—यदि हमारे मनमें, स्वप्नमें भी ऐसी विचारधारा चल पड़ती है तो यह हमारा नितान्त भ्रम है। इस भ्रमको हम जितना शीघ्र सर्वथा परित्याग कर देंगे—उतनी ही शीघ्रतासे हमारे श्रेयका मार्ग प्रशस्त होकर भगवान्‌के सच्चे प्रकाशका हमें अवश्य-अवश्य शीघ्र-से-शीघ्र साक्षात्कार होकर ही रहेगा।

सच तो यह है कि जिसे सचमुच परम विशुद्ध संत मिल जाते हैं, जो तनिक भी उनकी महिमाका ज्ञान रखता है, उनकी महिमाका तनिक भी उपयोग अपने जीवनमें करता है—चाहे लचड़-पचड़ विश्वासके साथ ही तनिक भी, किंतु सच्चे अर्थमें, उनपर न्योछावर हो जानेकी लालसा जिसमें जाग उठी है—उसे संत भगवान्‌से भी अधिक प्रिय लगने लगते हैं। यदि ऐसा नहीं हुआ है, उसके जीवनमें तो या तो उसे असली परम विशुद्ध संत मिले ही नहीं हैं या वह है उसी श्रेणीमें—बस, उस साग बेचनेवालीकी श्रेणीमें ही, जिसने प्रकाश देनेवाला एक पत्थरका टुकड़ा समझकर हीरेको लेकर—उस अनमोल हीरेको अपने घर लाकर ताखेमें रख दिया है। उसने भी संतको एक बड़ा ही सज्जन व्यक्ति समझकर अपने मनरूपी घरके किसी कोनेमें स्थान दे रक्खा है—संत-मिलनका अर्थ उसके जीवनमें इतना ही है।

परम विशुद्ध संतकी महिमा अपार है; हम अपनी कुतर्ककी बुद्धि लेकर उसे समझ ही नहीं सकते। उसके लिये आवश्यकता होती है—एक बार विश्वासका पथ अपनाकर चलनेकी, उनके पीछे-पीछे कदम बढ़ानेकी। पीछे-पीछेका अर्थ है—उनकी रुचिकी दिशामें, उनकी रुचिको देखकर, उसे ही अपनाकर चलना। यहाँ तो हमारी दशा है उस राहगीरसे भी गयी-बीती, जो जिस-किसीसे भी राह पूछ लेता है और विश्वास करके, निश्चिन्त होकर उस राहपर बढ़ता ही चला जाता है। उसके मनमें यह संशय नहीं जागता कि राह बतानेवाला मुझे धोखा दे रहा है। वह राहगीर ठीक-ठीक—रास्तेका मोड़ आनेपर पूछ ही लेगा किसीसे और सीधे जाना है कि बायें कि दाहिने मुड़ना है—यह पता लेकर बतानेवालेकी आज्ञाका अनुसरण करता है। हम तो पद-पदपर अपनी मनमानी करते हैं। संतके बार-बार मना करनेपर भी पापके गर्तमें गिरनेकी दिशामें ही पैर बढ़ाते हैं और कहीं गिर भी चुके हैं, तो भी संतके अतिशय प्यारसे मना करनेपर भी, उनकी छोटी-से-छोटी, सुगम-से-सुगम आज्ञाका निरादर करके मुँह किये रहते हैं पतनके गड्ढेकी ओर ही। तनिक भी पश्चात्ताप नहीं अपनी भूलपर, और तुर्रा यह कि संतमें ही दोष दीखता है हमें। परम विशुद्ध संतसे मिलनेका प्रायः इतना ही अर्थ है जन-साधारणके जीवनमें आज।

किंतु इससे परम विशुद्ध संत बिल्कुल ही नाराज नहीं होते। उनकी कृपाका प्रवाह वैसे ही चलता ही रहता है पीछे-पीछे और एक क्षण जीवनमें ऐसा आयेगा ही—हो सकता है, वह क्षण आये ठीक मृत्युके बिन्दुपर ही—जिस क्षण हमारे जीवनकी धारा मुड़ेगी ही प्रभुकी ओर—संत-मिलन, विशुद्ध संत-मिलनकी अमोघता, उनकी कृपाके प्रवाहकी अव्यर्थता व्यक्त होकर ही रहेगी—'मोरे मन प्रभु अस बिसवासा। राम तें अधिक राम कर दासा॥'—यह सत्य होकर ही रहेगा। भले ही जगत् इसे, इस अद्भुत चमत्कारको, पारमार्थिक सत्यको न जान पाये, बुद्धिवादीके लिये यह हास्यास्पद ही बना रहे, किंतु सत्य तो सत्य ही रहता है। सत्य किसीकी मान्यताकी अपेक्षा नहीं रखता।

अतएव हम जिसे संत मान चुके हैं, उनकी सात्त्विक आज्ञाओंके पीछे अपने प्राणतक भी विसर्जित करना पड़े, इसके लिये भी सच्चा साहस बटोरकर अपने जीवनकी गाड़ीको आगे बढ़ाते चले जायँ। हमें भगवान्‌का प्रकाश मिलेगा ही।

कब ? कौन ? और कैसे ?

(लेखक—श्रीहरिकिशनदासजी अग्रवाल)

ये तीनों प्रश्न बड़े ही महत्त्वके हैं । जब मनुष्यके अंदर शुभेच्छाका उदय होता है, तब उसके अंदर यह मनोरथ जाग उठता है कि 'मुझे ईश्वरकी प्राप्ति होनी चाहिये' । वह इसके लिये व्याकुल होता है, महापुरुषोंके पास जाता है, सत्सङ्ग करता है । समय-समयपर उनसे प्रश्न भी करता है कि 'भगवन् ! मुझे ईश्वरकी प्राप्ति कब होगी' ?

कभी-कभी मुझे एक कृष्णभक्त मरीनड्राइवपर घूमते हुए मिल जाते हैं । जब भी वे मुझको देखते हैं तो पूछते हैं कि 'कृष्ण कब मिलेंगे ?' भक्तोंके मनके अंदर उठती हुई वियोगकी वेदना ही, योग बनकर चेतनाको जाग्रत् कर देती है । मनुष्यमें जितनी तीव्र जिज्ञासा उदित होगी, उसे उतनी ही जल्दी परमात्माकी प्राप्ति होगी । यदि हमें परमात्माके मिलनमें देरी हो तो हमें समझना चाहिये कि हमारी जिज्ञासाकी ही कमी हमें शीघ्र प्राप्त नहीं होने देती ।

जहाँ तीव्र वियोग होता है, योग भी वहीं होता है । वियोगमें मनुष्य जिसका वियोगी होता है, वह उसीका चिन्तन करता है । वह उसको छोड़ सारे जगत्को भूल जाता है । वहीं उसकी तदाकारवृत्ति हो जाती है, जिसका परिणाम यह होता है कि प्रियतम प्रेमीके मनके अंदर बस जाता है । उसके सिवा उसे और कुछ भी नहीं सूझता । मनमें प्रियतम ही प्रियतम झलकता रहता है, अन्य कोई नहीं भासता । संयोग या सामीप्यमें वह तदाकारवृत्ति नहीं रह जाती, जैसी कि वियोगमें होती है । संयोगसे बेशक बेहोशी रहती हो, किंतु वियोगकी तदाकारताके मजे चले जाते हैं । इसीलिये किसी उर्दू कविने कहा है कि 'जो मजा इन्तजारमें देखा, वह वसले यारमें कभी न देखा ।' प्रियतम या प्रेयसीके आस-पास रहनेसे उनका आपसका आकर्षण भी समाप्त-सा होने लग जाता है । वे शरीरसे तो पास हो जाते हैं किंतु मनसे दूर होते चले जाते हैं; यह प्रायः आजकल अधिक देखनेमें आता है । पर यह बात उन्हीं प्रेमियोंमें होती है, जो स्थूल देहके प्रेमी तथा आध्यात्मिकतासे नितान्त शून्य होते हैं । जो अपने हृदयका ही एक टुकड़ा या अपनी ही आत्मा मानकर प्रेमी बनते हैं या प्रेम करते हैं, उनके यहाँ तो परस्परके प्रेममें भी आत्मीय प्रेम ही झलकता है ।

किसी स्त्रीका पति यदि परदेश या विदेशमें गया हो तो उसका चिन्तन प्रेयसीके मनमें सदा उठता रहता है । किंतु ज्यों ही प्रियतम आ जाता है, त्यों ही चिन्तन तो समाप्त हो जाता है । किंतु उनके मिलनेका हर्षातिरेक उन्हें अद्वैतभावके परमानन्दके समीप ला उपस्थित करता है, जिसमें बाहर और भीतरका समाधिके समान ही भान नहीं रहता; सब कुछ भूल जाता है ।

मनुष्य वहीं है, जहाँ उसका मन है । कई ऐसे पति-पत्नियोंको भी देखा गया है जो शरीरसे पास होते हुए भी मनसे एक दूसरेसे बहुत दूर रहते हैं । कई ऐसे दम्पति भी देखे गये हैं, जो शरीरसे दूर होते हुए भी मनसे अति समीप हैं । सच्चे दम्पति वे ही हैं जो सर्वदा मनसे एक दूसरेके पास बने रहें । एक दूसरेको सर्वेशका स्वरूप समझकर ही याद करें । वियोगियोंकी प्रियतमसे मिलनेकी तड़पन और वेदना ही चेतना बनकर मनुष्यमें जागृति ले आती है । यही फल है वियोगका, जो कि योगका पूरा साधन बनता है । तभी तो वियोगीकी अनायास समाधि होती है । विरह-मन्त्र क्षणमात्रमें योगियोंकी गति दे देता है ।

परमात्मा कब मिलेगा ? यहाँ यह सवाल, 'कब'का नहीं—किंतु 'अब'का है । परमात्मा अब है, यहीं है और ऐसा कोई कण-क्षण खाली नहीं, जिसमें परमात्मा न हो । किंतु जन्म-जन्मान्तरोंकी भ्रान्तिके कारण हमें परमात्माकी दूरी-ही-दूरी प्रतीत होती है । वही परम प्रियतम है । उसीके भावसे सब पदार्थ प्रिय लग रहे हैं; क्योंकि जिसमें अपनपेका भाव है, वही प्रिय है, वह चाहे कोई भी क्यों न हो । और अपना अपनपा ही परमात्मा भी है ।

वृन्दावन आदि अनेक स्थानोंपर हमने भक्तोंको भगवान्के वियोगमें आँसू बहाते एवं तड़पते देखा है । सत्य प्रेमका रोना भी अन्तःकरणका धोना है । प्रेमके रोनेमें इतना बल है कि वह जन्म-जन्मान्तरोंकी अन्तःकरणकी अशुद्धियोंको धो डालता है । यदि हम कोई शुभ कार्य करते हैं तो उससे भी अन्तःकरणकी शुद्धि होती है । किंतु हो सकता है कि शुभ कर्मका अभिमान हमारे अन्तःकरणको मलिन भी कर दे तथा जितने समयमें वियोगाग्नि पापोंको

भस्म कर देती है, उतनेमें कर्म नहीं करते । देखा है, जिन्होंने लाखों रुपये दानमें दिये हैं, किंतु दानका अभिमान चढ़ा होनेके कारण उनके अन्तःकरणमें कोई परिवर्तन नहीं हो पाता है । अभिमान मलिनता बनकर अन्तःकरणपर छा जाता है, किंतु वियोगमें हीनता आती है, जो नम्रता पैदा करती है ।

परमात्माके वियोगमें रोनेसे न केवल मनुष्यका अन्तःकरण ही धुल जाता है, बल्कि अभिमान भी गल जाता है, अहंभाव भी बह जाता है और उसमें अपरिच्छिन्न भाव भर जाता है, जिससे वह सर्वत्र प्रियतमको देखता है । 'परमात्मा कब मिलेगा ?' इस प्रश्नका उत्तर 'अब' ही मिल जाता है । साधक कब-कब करते ही अब-अबमें आ जाता है । अर्थात् वर्तमानमें भगवान्‌को सर्वत्र देखते हुए ही जीने लग जाता है । वर्तमानमें जीना यही है कि मनुष्य भूत-भविष्यके विचारोंसे मुक्त हो जाय और वर्तमानमें सजग होकर जीये । जो मनुष्य वर्तमानमें जीता है, वही जीता है । जो वर्तमानमें नहीं जीता, वह कभी नहीं जीता । वह मूर्च्छित अवस्थामें ही जी रहा होता है । जिस प्रकार सोया हुआ मनुष्य रातभर स्वप्न देखता है । वह जाग्रत् अवस्थामें भी जाग्रत् नहीं है; क्योंकि जाग्रत् वही है जो वर्तमानमें सजग है ।

'कौन ?' जिस तरहसे भक्तके हृदयमें प्रश्न उठता है कि—'परमात्मा कब मिलेंगे ?', उसी प्रकार जिज्ञासुके हृदयमें भी यह प्रश्न उठता है कि 'मैं कौन हूँ ?' इस 'मैं कौन हूँ ?' प्रश्नका जितना ही विश्लेषण करते जायँगे, उतना ही उसका हल मिलता चला जायगा । जिस प्रकार प्रयोगशालामें हम 'नेति-नेति' द्वारा समस्या हल कर लेते हैं, इसी प्रकार 'मैं कौन हूँ ?' के प्रश्नका हल भी नेति-नेतिके द्वारा ही होता है ।

मनुष्य पहले सोचता है कि 'क्या मैं पाञ्चभौतिक शरीर हूँ ?' तो उसे समाधानके रूपमें जो उत्तर अनुभवके आधार-पर मिलता है कि 'मैं पाञ्चभौतिक शरीर नहीं हूँ ।' यही सत्य है; क्योंकि अंगुली, हाथ या बाजू कट जानेपर भी हमारा अस्तित्व बना रहता है । यदि किसी मनुष्यकी टाँगें चली जायँ, आँख-कान नहीं रहें, तब भी उसका अस्तित्व बना रहता है । स्वप्नमें पाञ्चभौतिक शरीर तो पलंगपर लेटा होता है, किंतु वहाँपर वह एक मानसिक शरीर बनाकर उससे देखता-सुनता तथा भागता-दौड़ता है । सुषुप्तिमें तो स्थूल और सूक्ष्म—दोनों ही शरीर नहीं रह जाते, फिर भी हम रह जाते हैं । इसीलिये हमारा अस्तित्व स्थूल-सूक्ष्म शरीरसे भिन्न तथा स्वतन्त्र है । हम स्थूल-सूक्ष्म या कारण-शरीर नहीं हैं, इनसे नितान्त भिन्न हैं ।

इसी प्रकार इन्द्रियोंके न रहनेपर भी हम रहते हैं । स्वप्न-सुषुप्तिमें इन इन्द्रियोंका भी अभाव रहता है । किंतु हमारा रहना वहाँ भी बना रहता है । मन-बुद्धि इत्यादिकी यही परिस्थिति है । जब मनुष्य इस प्रश्नको बार-बार पूछता है तो उसका यह प्रश्न ही हल बनकर उसके सामने उत्तरके रूपमें उपस्थित हो जाता है । बाहरसे किया हुआ समाधान हमारे उतना कामका नहीं होता, जितना मनुष्यके 'नेति-नेति' द्वारा अपना किया हुआ होता है । अंदरसे उठा हुआ समाधान ही काममें आता है, जिस प्रकार एक वैज्ञानिक प्रयोगशालामें किसी चीजका विश्लेषण करते हुए अन्तिम निश्चयपर पहुँच जाता है कि 'वस्तु क्या है' ?

कोयला साधारण मनुष्यको काले रंगकी वस्तु प्रतीत होता है, किंतु उसमें आग छिपी हुई है । यह पता तब चलता है, जब कि उस कोयलेको सुलगाया जाता है । काले कोयलेकी राख सफेद होती है । जलनेके बाद उसकी कालिमाके साथ उसके सारे दोष दूर हो जाते हैं; किंतु वैज्ञानिक इसे यहीं समाप्त नहीं करता, वह इसकी खोज-बीन जारी रखता है । अन्तमें इस निर्णयपर पहुँचता है कि कोयला कार्बन है । इसमें कार्बनके सभी गुण हैं, जो एक हीरेमें है । वैज्ञानिकोंने कोयले और हीरेको समान पाया, जब कि सामान्य दृष्टिसे हीरा बहुत मूल्यवान् और कोयला अत्यल्प मूल्यवान् । हीरा एक चमकता हुआ पत्थर है, कोयलामें बिल्कुल चमक नहीं है । वैज्ञानिकोंने और भी संशोधन किया । उन्होंने उसके ऐटमिक तत्त्वको भी संशोधन कर उससे ऐटमिक तत्त्व निकाला, जिसमें अनन्त शक्ति पायी । उसने उसमें उस अनन्त शक्तिकी भी अनुभूति की ।

'मैं कौन हूँ ?' प्रश्नका विश्लेषण भी अन्तमें निजात्मा-की अनुभूति कर देता है । 'योगवासिष्ठ'में कहा है कि 'संकल्प है तो संसार है । जहाँ संकल्प नहीं, वहाँ बोधरूप परमात्मा ही रह जाता है । आत्माके ऊपर अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय—ये पञ्च कोष चढ़े हुए हैं । जब ये कोष एक-एक करके उतर जायँगे, तब जिस प्रकार म्यान-

मेंसे नग्न तलवार बाहर आ जाती है, उसी प्रकार आत्मा, जो कि इन कोषोंके कारण अज्ञात-सा हो रहा है, स्वयं जिज्ञासुकी अनुभूतिमें आ जाता है।' यही है—'मैं कौन हूँ ?' प्रश्नका प्रत्यक्ष समाधान या सच्चा उत्तर।

'कैसे ?' कब और कौनके बाद 'कैसे ?' का प्रश्न उठता है। जबतक इस प्रश्नका हल नहीं हो जायगा, तबतक मनुष्यका समाधान नहीं होगा।

परमात्मा सर्वज्ञ है और जीव अल्पज्ञ। परमात्मा सर्वव्यापक है जब कि जीव परिच्छिन्न है। इन विषमताओंके रहते हुए इन दोनोंका मिलन कैसे हो सकता है ?

यदि वस्तुतः दो होते तो मिलनका सवाल पैदा होता। वह तो मिला-मिलाया ही है। किंतु यदि अज्ञानताके कारण हम उसे नहीं पहचान पाते तो हमें केवल अज्ञानकी निवृत्ति ही करनी होगी। हमें किसीको मिलनेके लिये कहीं जाना नहीं पड़ेगा। सारी विषमताएँ अज्ञानने ही खड़ी कर रक्खी हैं। अज्ञानके साथ सभी कुछ समाप्त हो जाता है।

पूनासे एक सज्जन किसी एक बड़े डाक्टरसे मिलनेके लिये डेकनक्वीनके फर्स्टक्लासके डिब्बेमें बैठकर बम्बई आ रहे थे और जिन डाक्टरसे वे मिलने आ रहे थे, वे भी उसी डिब्बेमें थे, परंतु पहचान नहीं। जब बम्बई आकर मिलने गये तो समझा कि 'ये तो वही डाक्टर हैं, जो पूनासे मेरे साथ ही बम्बई आये। डाक्टर तो पूरी यात्रामें मेरे साथ रहे, पर मैं जान न सका।' इसी प्रकार परमात्मा हमारी जीवनयात्राके साथ है, किंतु पहचान न सकनेके कारण हम उसे इधर-उधर ढूँढ़ रहे हैं।

कभी हम उसे पानेके लिये माला फेरते हैं, कभी हम उसके दर्शन करने मन्दिरमें जाते हैं, कभी संतोंका लाभ लेने सत्संगमें जाते हैं; किंतु वह हमें नहीं मिलता। यह भी कहना भ्रान्ति है; क्योंकि सोनेका आभूषण कहे कि मुझे सोना नहीं मिलता, तो यह उसकी निजी भूल ही होगी। हम सोनेमें आभूषणको भी देखते हैं, आभूषणकी चमचमाहट और उसकी डिजाइनको भी देखते हैं, किंतु आभूषणमें विशुद्ध सोनेके दर्शन नहीं करते। इसी प्रकार हम प्राणियों-को तो देखते हैं, किंतु उनके अंदर व्याप्त चेतनाको हम नहीं देखते, व्याप्त चेतनाका हम अनुभव नहीं करते। चैतन्य ही चेतनाके रूपमें इन्द्रियोंके द्वारा भासित होता है। वही आँखोंके अंदर देखता है, कानोंसे सुनता है, नाकसे सूँघता है—इत्यादि सब कुछ वही करता है। यदि मनुष्यमेंसे चेतन निकाल दिया जाय तो फिर कुछ भी नहीं रह जाता। मनुष्य एक छोटा ब्रह्माण्ड है, वह स्वयं ब्रह्माण्डका प्रतीक है। मानवके रक्तकी एक बूँदमें करोड़ों-करोड़ों जीव चलते-फिरते नजर आते हैं। अतः मनुष्यका रोम-रोम, कण-कण चैतन्य ही है। इसका सब कुछ जीवमय है।

लास एंजिल्सकी एक प्रदर्शनीमें मैंने रोमका प्रतीक ६ फुटका काँचका एक गोला देखा, जिसमें चाँद, सूर्य, नक्षत्र, तारागण सभी प्रतीत हो रहे थे। विज्ञानने भी मनुष्यके रोमके अंदर ब्रह्माण्डकी अनुभूति की है। इससे प्रतीत होता है कि धीरे-धीरे विज्ञान भी अब वेदान्तके सिद्धान्तकी ओर झुकता जाता है।

जैसा कि ऊपर कहा गया है कि परमात्मासे मिलना नहीं, परमात्मामें लीन होना पड़ता है। मनुष्य यदि अपना परिच्छिन्नभाव परमात्मामें लीन कर दे तो मनुष्यका 'अहंभाव' मिट जायगा; फिर सर्वत्र परमात्मतत्त्व ही शेष रह जायगा, जीवत्व मिट जायगा। परमात्माके अनन्त ब्रह्माण्डमें हमने अपने-अपने परिच्छिन्न अलग-अलग दायरे बना लिये हैं। यदि हम उन दायरोंकी रेखाओंको मिटा सकें तो हम अनन्तमें ही होंगे। हमारे फिर अलग दायरे न रह जायँगे।

विचार ही विकार है, विचार ही द्वैत है, विचार ही परिच्छिन्नता है और विचार ही जीवत्व है। आत्मामें विचार उठ रहे हैं और वे इतने बढ़े हैं कि आत्माको ही ढँक रहे हैं। जिस प्रकार काई पानीके ही आश्रयसे उत्पन्न होती है और पानीको ही ढँक लेती है। आत्माको इनसे निरावृत करनेका एकमात्र उपाय है—'निर्विषयक बोध', विषय-विषयी भावसे रहित ज्ञान। वही ज्ञान, जो कि विभिन्न विचारों-का भी आधार है; जिसमें विचार उठते और लीन हो जाते हैं। हम विचारोंको तो देखते हैं किंतु उस ज्ञानको नहीं देखते, जिसमें उन विचारोंकी सत्ता है। जिस प्रकार सिनेमाके परदेपर दृश्योंको देखते हैं, पर परदेको नहीं देख पाते, किंतु जब रील टूट जाती है तो कार्बनका प्रकाश सीधे परदेपर पड़नेके कारण परदा अपने आप प्रकट हो जाता है, इसी प्रकार जब हमारे अंदर विचारोंका ताँता टूट जाता है, तब परमात्मा प्रकट हो जाता है। परमात्मा अव्यक्त है, इसलिये अव्यक्तके साथ एक हो जाना, उसके साथ भेद-भाव न

रहना, उसकी अद्वैतताको प्राप्त हो जाना—यही परमात्म-प्राप्तिका सरल एवं सच्चा उपाय है, जो कि 'कैसे'—इस प्रश्नका उत्तर है।

इस प्रकारका ज्ञानी उपासक उस सर्वव्यापकको चाहे जिस जगह और चाहे जिस रूपमें पा सकता है। उसके साक्षात्कारमें वस्तु, काल और देशका भेद बाधक नहीं होता।

सत्पुरुषोंके आभूषण

[ऐतिहासिक कहानी]

(लेखक—डॉ० श्रीरामचरणजी महेन्द्र एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

महाराष्ट्रमें एक महिला-उत्सव! सर्वत्र धूमधामका संगीतमय वातावरण! आनन्द और उल्लासका सुखद पर्व!

राजमहलमें इस उत्सवको राजकीय स्तरपर आयोजित किया जा रहा है! राजमहलका महिला-कक्ष विशेषरूपसे सुसज्जित किया गया है। रंग-बिरंगी झंडियों, सुन्दर द्वार, चित्र, रंगीन पुताई और विविध साधनोंसे पथको सजाया-सँवारा गया है।

राजपथको जानेवाली सड़कपर रंगीन मिट्टी लीप-पोतकर भव्य मङ्गलमय चित्रकारी की गयी है। आकर्षक बेलबूटे और भाँति-भाँतिके रंगीन कागज लगाकर सजावटको द्विगुणित किया गया है। अहह! आज राजमहल नयी नवेली दुलहिन-सा आकर्षक प्रतीत होता है।

महाराष्ट्रके अधिपति पेशवा माधवराव इस राजकीय महिला-उत्सवको पूर्णतः सफल बनानेमें अभिरुचि रखते हैं। वे सजावटमें स्वयं काफी सक्रिय सहयोग प्रदान कर रहे हैं। उन्होंने राजकीय आदेश जारी किया है कि यह नारी-उत्सव प्रान्तकी गौरवमयी संस्कृतिके अनुरूप बड़े वैभवसे सम्पन्न किया जाय। राजकीय ऐश्वर्यका पूर्णतः प्रदर्शन हो! राजधानीकी अधिक-से-अधिक महिलाएँ उच्च, मध्य तथा निम्नवर्ग—सभी वर्गोंकी नारियाँ इस उत्सवमें मुक्त-हृदयसे भाग लें। राजकीय कोषका कितना ही व्यय क्यों न हो, पर ऐश्वर्य और परम्पराके अनुकूल ही सांस्कृतिक उत्सवका आयोजन रहे।

सभी राजकीय कर्मचारी तथा राजधानीके लब्धप्रतिष्ठ नागरिक सजावट तथा अन्य कार्यक्रमकी सफलताके लिये भाग-दौड़ कर रहे हैं। जहाँ विपुल धन व्यय किया जाय, नागरिक और राजकीय शक्तियोंका सहयोग हो, वहाँ क्यों न सफलता मिलेगी!

स्वयं पेशवा माधवराव राजसी मूल्यवान् वस्त्र पहिने हैं, किंतु सबसे अधिक उल्लास और सौन्दर्य-विभूषिता तो महारानीजी हैं; रेशमी वस्त्र, मणि-माणिक्य और हीरे-मोतियोंके कीमती आभूषण धारण करनेके कारण वे बड़ी रमणीय प्रतीत हो रही हैं।

राजधानीकी प्रायः सभी उच्चवर्गीय अमीर तथा शासक-वर्गकी महिलाओंको आमन्त्रित किया जा चुका है। रंगीन वस्त्रों तथा आभूषणोंसे सुसज्जित मानो सौन्दर्यके समूह-के-समूह राजमहलकी ओर अग्रसर होते आ रहे हैं।

उन महिलाओंका हर्षोल्लाससे स्वागत किया जा रहा है। लीजिये, देखते-देखते समस्त राजकीय कर्मचारियोंकी धर्म-पत्नियाँ उत्सवके लिये आ पहुँची हैं। केवल पेशवा माधवरावके प्रधान न्यायाधीशकी धर्मपत्नी अभी नहीं पहुँची हैं, उनकी प्रतीक्षा उत्सुकतापूर्वक की जा रही है। वे राज्यकी सबसे उच्च वर्गकी प्रतिनिधि हैं। उनके न आनेसे उत्सव फीका-सा है। उनकी देरीके कारणोंका अनुमान लगाया जा रहा है।

'राजकीय प्रधान न्यायाधीशकी धर्मपत्नीजी उत्सवमें सम्मिलित होनेके लिये अभीतक नहीं पधारीं? इतने बड़े राजकीय उत्सवमें उनकी अनुपस्थिति सबको बड़ी खटक रही है।' महारानी पूछ रही हैं।

'कदाचित् वे महिला-उत्सवके अनुरूप साज-शृङ्गार न कर पायी होंगी अभी तक।' एक महिलाने अनुमान लगाया।

'किसीको तुरंत उनके घर भेजकर मालूम कराओ कि इस हर्ष और उल्लासके सांस्कृतिक पर्वमें भाग लेनेके लिये वे यहाँ कितनी देरमें पहुँच रही हैं? इतने उच्चस्तरकी महिलाका साज-शृङ्गार राजकुलके अनुरूप उच्च कोटिका होना चाहिये, इसमें क्या संदेह है?' महारानीने कहा।

फिर क्या था, दो-तीन दासियाँ तुरंत महामन्त्रीके गृह भेजी गयीं। अबतक राज्यमें रहनेवाली सभी उच्च घरानोंकी महिलाएँ राजभवनमें पहुँच चुकी थीं। राजमहल तालाबमें खिले रंग-बिरंगे कमलके पुष्पोंके समान सुरभित था।

उधर स्वयं महारानीजी भी अपने रूप-शृङ्गारको बढ़ाने और साज-सज्जाको निखारनेमें लगी हुई थीं। वे प्रतिक्षण अपनी भाव-भङ्गिमाएँ देखनेके लिये आदमकद शीशेके सम्मुख खड़ी होतीं और स्वयं अपने ही सौन्दर्यकी प्रशंसा करती मन-ही-मन उसपर मुग्ध होतीं। उनकी दबी हुई इच्छा थी कि कोई उनके रूप-लावण्यकी भरपूर प्रशंसा करे। बड़ी उम्रकी स्त्रियोंमें भी प्रायः यह कमजोरी होती है।

'लीजिये, प्रधान मन्त्रीजीकी धर्मपत्नीजी पधार रही हैं।'

सबके उत्सुक नेत्र पपीहेके स्वाति नक्षत्रकी ओर लगे नयनोंकी तरह उधर लग गये।

उन्होंने दूरसे ही महारानीको नमस्कार किया।

'अहह! आइये, आपकी तो बड़ी देरसे प्रतीक्षा की जा रही है।'—महारानीजीने उनका स्वागत करते हुए हर्षमिश्रित मधुर स्वरमें कहा।

'देरीके लिये क्षमा करें!' कहते हुए प्रधानमन्त्रीकी सीधी-सादी धर्मपत्नीने आदरपूर्वक उत्तर दिया। लज्जाका भाव था उनके मुख-मण्डलपर!

लेकिन ओह! उन्हें साधारण गृहिणीकी तरह सीधे-सादे वेश और मामूली वस्त्र पहिने देख महाराष्ट्रकी महारानी आश्चर्यके सागरमें डूब गयीं।

साधारणसे सफेद वस्त्र; हाथोंमें दो-दो काँचकी लाल-लाल चूड़ियाँ, गलेमें मङ्गलसूत्र, नाकमें मामूली-सी सोनेकी लौंग और कर्णफूल कानोंमें। पूरा वेश जन-साधारण-जैसी मामूली, सद्गृहस्थ नारीकी तरह!

राज्यके इतने ऊँचे राज्य-अधिकारीकी धर्मपत्नीके शरीरपर न हीरे, न बहुमूल्य जवाहरात! न रेशमी वस्त्र! न तड़क-भड़क, न सौन्दर्य-प्रदर्शन!

महारानीजीको आशा थी कि इस राजकीय महिला-उत्सवपर तो कम-से-कम वे उच्च श्रेणीका बनाव-शृङ्गार करके ही आयेंगी ही!

पर उफ्! इस सीधी-सादी वेशभूषाको देखकर उनकी रंगीन कल्पनाओंपर तो जैसे तुषारापात ही हो गया! महामन्त्रीकी धर्मपत्नीकी सादगीसे वे मन-ही-मन व्यग्र हो उठीं। यह उन्हें राजकीय स्तरसे गिरी हुई अपमानजनक स्थिति प्रतीत हुई! मन-ही-मन आत्मग्लानिसे वे ऐसी व्यथित हुईं, मानो सैकड़ों जहरीले बिच्छू उन्हें अंदर-ही-अंदर काट रहे हों।

वे मनमें कहने लगीं—'अरे! ऐसी साधारण वेशभूषामें इतने बड़े राजकीय उत्सवमें सम्मिलित होना तो राज्यकुल और महाराष्ट्र प्रान्तकी निन्दा है। जब अन्य महिलाएँ इन्हें मेरे साथ राजसी वैभवके साथ देखेंगी, तो सम्भ्रान्त परिवारोंकी महिलाएँ न जाने क्या-क्या व्यंग्य-बाण हमपर फेंकेंगी! कैसे-कैसे कटु तानें देंगी!!'

उन्होंने दबे स्वरमें कुछ इसी प्रकारके विचार पास खड़ी एक महिलासे कहे। उसने उत्तर दिया—'जी हाँ, प्रधान-मन्त्री और राज्यके प्रधान न्यायाधीशकी धर्मपत्नीको इस प्रकार दरिद्र-वेशमें देखकर राज्यका अपमान होगा।'

'यही नहीं, महारानीजी! इसमें तो श्रीमन्त पेशवा महाराजकी कृपणता भी टपकेगी!' दूसरी रमणी व्यंग्यपूर्वक कहने लगी।

'फिर आप सबकी क्या राय है?' महारानीजीने सबसे सलाह माँगी।

'अशिष्टताके लिये क्षमा करें! अब उत्सवका समय निकट है। अब इन्हें वापिस घर जाकर वस्त्र और आभूषण बदलने तो भेजा नहीं जा सकता।' एक महिलाने कहा।

'फिर क्यों न राजपरिवारसे ही वस्त्र और आभूषणोंका प्रबन्ध किया जाय?' सहृदयतापूर्वक महारानीजीने सुझाव दिया।

'महारानीजी! इससे बढ़कर तो और कोई समयानुकूल बात ही नहीं हो सकती।'

'और इसमें उनका सम्मान ही है। उन्हें तो खुशी होनी चाहिये कि उन्हें आज महारानीजीके बहुमूल्य वस्त्र और बेशकीमती रत्नोंवाले आभूषण धारण करनेका सौभाग्य प्राप्त होगा!'

'ठीक है'—महारानीजीने निर्णय लिया। 'आप सबकी सलाह उचित ही है।'

'फिर स्वयं आप ही इनसे कह दीजिये, अपने मनकी यह शुभ बात !'

महारानीजीके सुझावको अस्वीकार करना आसान न था। फिर उन्होंने बड़े शिष्ट और मधुर शब्दोंमें श्रीरामशास्त्रीजीकी धर्मपत्नीसे आग्रह किया था कि 'वे राजकीय गौरवको बनाये रखने और राजकीय स्तरके अनुकूल आज तड़क-भड़क और वैभवशाली वस्त्राभूषण धारण कर लें।'

'लेकिन मेरे पतिदेवको यह बाह्याडम्बर—दिखावा पसंद नहीं'—प्रधान मन्त्रीजीकी धर्मपत्नी कहने लगीं। 'भला शानशौकत, मिथ्या प्रदर्शन और बाहरी दिखावेसे क्या होगा ! भड़कीली पोशाकके बलपर मनुष्य कितने दिन दूसरोंको धोखा दे सकता है ?'

'नहीं, नहीं, सो बात नहीं !'—महारानीजी समझाने लगीं—'यह वस्त्राभूषण तो आप कुछ देरके लिये महाराष्ट्रकी राजसी शोभा बनाये रखनेके लिये धारण करेंगी। महज मेरा मन रखनेके लिये।'

'क्या यह बेहद जरूरी है ?'

'यह तो समस्त महाराष्ट्रके सम्मानका प्रश्न है !'

'तो क्या मनुष्यका सम्मान उसकी बाह्य वेश-भूषा और आभूषण आदिपर आधारित है ?' श्रीरामशास्त्रीजीकी धर्मपत्नीने पूछा।

'आप मेरा आग्रह मानें'—महारानी हठ करने लगीं। 'आज महिला-उत्सवमें आपका व्यक्तित्व, सजधज राज्यकुलकी वैभवश्री बढ़ायेगी। कृपया मेरा प्रेमपूर्ण आग्रह स्वीकार कीजिये—सिर्फ मेरे लिये।'

बार-बार इतनी बड़ी महिलाका अनुनय-विनय देखकर अन्तमें उनका मन रखनेके लिये आखिर राजकीय वस्त्राभूषण धारण करनेका आग्रह वे मान ही गयीं।

महारानीजीका हृदय बाँसों उछल रहा था। महिला-उत्सवपर उनका आग्रह स्वीकार कर लिया गया था। उन्होंने स्वयं जाकर अपने वस्त्रोंके कक्ष खोले। राजकीय आभूषणोंकी आलमारियाँ क्या थीं, मानो किसी बड़े जौहरीकी खूबसूरतीसे सजी हुई दूकानें ही हों ! नये-से-नये डिजाइनोंके हीरे-मोती-माणिक—पन्ने तथा जवाहरातोंके अनगिनत गहने सजे थे।

महारानीजीने स्वयं ही महामन्त्रीजीकी धर्मपत्नीको बहुमूल्य शानदार राजसी वस्त्र पहिनाये। फिर अपनी मनपसंदके आभूषणोंसे उनको सजा दिया। साज-शृङ्गार और सौन्दर्य-प्रसाधन धारणकर आज श्रीरामशास्त्रीजीकी धर्मपत्नी भी महारानी-जैसी ही लग रही थीं।

महामन्त्रीजीकी धर्मपत्नी जो सदा सादगीसे संतुष्ट रहती थीं, आज सङ्गदोषसे राजसी वस्त्रोंमें स्वर्ण-रत्न-आभूषणोंसे अलंकृत अत्यन्त आनन्दका अनुभव कर रही थीं। एक तो राजकीय सम्मान, दूसरे उच्च शासकीय पद और उसपर यों राजसी ठाट-बाट ! मनमें छिपी वासना जग उठी और उन्हें आज जीवन एक सुखद स्वप्न-सा मादक मोहक प्रतीत हुआ।

राजकीय महिला-उत्सव सफलतापूर्वक सम्पन्न हुआ। आज समस्त महाराष्ट्र अपने स्वर्णिम अतीतपर गर्वित था। नव-मधुर-भावोंसे पूरित।

'आज हमारा एक और आग्रह मानें !'—महारानीजीने श्रीरामशास्त्रीजीकी धर्मपत्नीसे पुनः निवेदन किया।

'आज्ञा दीजिये !'

'काश ! आपकी यह शोभा—यह सौन्दर्य आपके पतिदेव देखते !' अपने-अपने मनका आनन्द ! उन्हें क्या पता कि इनके पतिदेव इस सौन्दर्यसे सुखी होंगे या दुखी।

श्रीरामशास्त्रीजीकी धर्मपत्नी संकोचवश कुछ बोल न सकीं।

तबतक महारानीजीने राजके कहारोंको आज्ञा दी।

'आपको इसी ठाटबाटसे प्रधान मन्त्रीजीके घरपर शाही पालकीमें बैठाकर पहुँचा आओ !'

'जो आज्ञा, महारानीजी !'

श्रीरामशास्त्रीजीकी धर्मपत्नी आयी तो थीं पैदल, किंतु बिदाईके समय उन्हें मराठा राज्यकुलकी शोभा बढ़ाते हुए शाही पालकीमें बड़े शानशौकतसे बहुत-सी महिलाओंके साथ बिदा किया। एक छोटा-सा जुलूस कोलाहल करते हुए शास्त्रीजीके मकानपर पहुँचा।

कहारोंने श्रीरामशास्त्रीजीका दरवाजा खटखटाया। बाहर शोर-गुल था। शास्त्रीजी आश्चर्यमें डूबे हुए बाहर निकले।

अकस्मात् आये हुए इस जुलूस, इस कोलाहल और राजकीय टीपटापको देखकर विस्मित रह गये।

'अरे ! कौन हैं ये सब लोग ? यह पालकी किसकी है ! यह सब क्या है !' शास्त्रीजीको अपने नेत्रोंपर विश्वास न हुआ ! क्या वे एक मधुर स्वप्न देख रहे हैं !

फिर एक अजीब-सी घटना घटी ! रहस्य और रोमाञ्चसे परिपूर्ण !

जैसे ही शास्त्रीजीने अपनी धर्मपत्नीको सुन्दर वस्त्रों और आभूषणोंमें पहचाना, तो एकाएक दरवाजा बंद कर लिया।

अरे, यह क्या हुआ ? यह क्यों हुआ ?

घरका दरवाजा स्वयं अपनी ही धर्मपत्नीके लिये बंद हो गया था ! सबके सामने ! प्रधान मन्त्रीकी धर्मपत्नीको आत्मग्लानिके कारण मार्मिक वेदना हुई ! इतने व्यक्तियोंके सामने अपमान ! उफ् ! क्या सोचेंगे ये सब लोग !

कहार चतुर थे ! भाँप गये कि श्रीरामशास्त्री नाराज हो गये। उन्होंने द्वार फिर खटखटाया।

'द्वार खोलिये ! कृपया इन्हें अंदर ले लीजिये !'

लेकिन किवाड़ फिर भी अंदरसे बंद रहे।

थोड़ी देर बाद अंदरसे आवाज आयी, 'बहुमूल्य शाही वस्त्राभूषणोंसे सुसज्जित ये राजकीय घरानेकी कोई देवी मालूम होती हैं।'

'नहीं, नहीं, श्रीमन्त ! ये तो आपकी धर्मपत्नीजी ही उत्सवसे वापस पधारी हैं। उसी वेशभूषामें ! कृपया इन्हें अंदर ले लीजिये।'

'मेरी सीधी-सादी पत्नी ऐसे चमकीले-भड़कीले शाही वस्त्राभूषण धारण नहीं कर सकती। तुम भूलकर रामशास्त्रीके द्वारपर चले आये हो !' दृढ़तासे आवाज आयी।

'कृपया द्वार खोल दीजिये। देर हो गयी। इन्हें अंदर ले लीजिये !'

किंतु बार-बार आग्रह करनेपर भी श्रीरामशास्त्रीने अंदरसे दरवाजा नहीं खोला। उनकी धर्मपत्नी शास्त्रीजीके हठी और कट्टर स्वभावसे भलीभाँति परिचित थीं।

मनमें निराश और सबके समक्ष लज्जित होकर उन्होंने कहारोंको आज्ञा दी, 'पालकी वापस राजमहलमें ले चलो !'

सभी वहाँ इस अद्भुत नाटकीय घटनापर विस्मय प्रकट कर रहे थे। अजीब सनकी व्यक्ति हैं ये महाराष्ट्रके महामन्त्री न्यायाधीश श्रीरामशास्त्री ! अपनी ही धर्मपत्नीको भरी जनतामें अपमानित करके लौटा दिया।

भला, ऐसा भी क्या फितूर है इनके दिमागमें !

महारानीजीने सब हाल सुना, तो वे भी चकरा गयीं। कुछ रहस्य समझ न पायीं वे।

'देखिये महारानीजी ! मैंने आपसे निवेदन किया था न कि मेरे पतिदेव दिखावट और यह राजसी वस्त्राभूषण पसंद नहीं करेंगे !'

'क्या बतावें, आपके पतिदेवका रहस्यपूर्ण व्यवहार कुछ समझमें नहीं आया !'' महारानीजीने दुःख प्रकट करते हुए कहा।

उनकी धर्मपत्नीने वे राजसी तड़क-भड़कवाले बहुमूल्य वस्त्र और हीरे-जवाहरातवाले कीमती आभूषण उतार डाले। फिर वही पहिलेवाले साधारण वस्त्र ही धारण कर लिये। जैसे भारतीय गृहस्थीकी सीधी-सादी नारीके रूपमें आयी थीं, वे फिर वैसी ही मामूली हिंदू नारी बन गयीं।

'इन शाही वस्त्रों और आभूषणोंने तो मेरे घर और परिवारका द्वार ही बंद कर दिया है'—उन्होंने क्षोभपूर्ण दबे स्वरसें वेदना उँड़ेलते हुए कहा—'लीजिये, इन सबको सधन्यवाद सेवामें वापस करती हूँ।'

इस बार वे महारानियोंकी तरह शान-शौकतवाली पालकीसें न बैठकर मामूली स्त्रियोंकी भाँति पूर्ववत् पैदल ही अपने घर वापस गयीं।

स्वयं ही पुकारा, 'मैं आपकी सहधर्मिणी आयी हूँ। कृपया अंदर आने दीजिये !'

इस स्वरमें न जाने कैसा माधुर्य और आकर्षण था कि इस बार उनके प्रेमपूर्ण स्वागतमें घरका द्वार खिले हुए फूलकी तरह खुला हुआ था। वे खुशी-खुशी अंदर गयीं। पतिसे क्षमा माँगी। एक बार फिर पति-पत्नी दाम्पत्यस्वर्गका सुख लूट रहे थे। वातावरण प्रेममय और सौहार्दपूर्ण था। बातें करनेके बाद वे कुछ संतुलित हुईं।

'क्योंजी, तब आपको क्या हो गया था ?' श्रीरामशास्त्रीकी धर्मपत्नीने प्यार उँडेलते हुए पूछा।

वे चुप थे। उन्होंने दुहराया—

'आपने अपनी धर्मपत्नीके लिये ही क्यों घरका द्वार बंदकर वापस लौटा दिया था ?'

वे कुछ नहीं बोले। उनकी पत्नी बार-बार आग्रह करने लगीं, 'कुछ तो बताइये, आपको क्या जिद हो आयी थी! क्या था आपका दृष्टिकोण ?'

अब श्रीरामशास्त्रीको कुछ उत्तर देनेके लिये विवश होना ही पड़ा।

'बहुमूल्य वस्त्र और आभूषण या तो राजपुरुषोंको शोभा देते हैं या मूर्ख उनके द्वारा अपनी मूर्खता, अज्ञान और छिछोरापन छिपानेका प्रयत्न करते हैं।'

'ओह! यह क्या कहा! क्या मतलब है आपका ?— तो आभूषण क्या हैं फिर ?'

'प्रिये! सत्पुरुषोंके आभूषण तो उनके सद्गुण, सदाचार और सादगी हैं। जीवनमें सरलता ही सुखद है। आदमीके व्यवहारमें सरलता और आचरणकी स्वच्छता तथा स्पष्टता बनी रहे, तो समाजमें कुछ भी परेशानियाँ नजर न आयें। सच जानो, हमारी यह झूठी शान-शौकत—यह राजसी दिखावा—यह फैशनपरस्ती और असली परिस्थितिसे भिन्न रूप दिखाना ही जटिलताएँ उत्पन्न करता है। यही झूठा दिखावा मुझे पसंद नहीं आया था।'—सकुचाते हुए श्रीरामशास्त्रीने उत्तर दिया।

'ओफ! आप मुझे इस गलतीके लिये क्षमा करें! संसर्ग-दोषके कारण ही आपकी सहधर्मिणीसे यह भूल हो गयी थी।'

और फिर दोनों पति-पत्नी दाम्पत्य-जीवनके स्वर्गमें विहार करने लगे। गलतफहमी आकाशमें घिरे काले-काले बादलोंकी तरह दूर हो गयी। युग-युगान्तरोंके दिव्य ईश्वरीय संस्कारोंके परिणामस्वरूप ही यह दाम्पत्य-स्वर्ग मिलता है। पति-पत्नीकी सम्मिलित इकाईके अनुपातमें ही तो पृथ्वीपर स्वर्ग बिखरा पड़ा है। शास्त्रोंमें कहा भी है—

भार्या पत्युर्व्रतं कुर्याद् भार्यायाश्च पतिर्व्रतम्।
संसारोऽपि सारवान् स्याद् दम्पत्योरेकभावकः॥

यदि पति-पत्नी एक-हृदय हों, तो यह असार संसार भी सारवान् बन सकता है। यहाँ इसी धरतीमें भी स्वर्गके दर्शन करने हों, तो सद्गृहस्थको अपने दाम्पत्य-जीवनमें प्रेम, स्नेह, आत्मीयता और अभिन्नता (एक दूसरेकी रुचि, सुख, सुविधाका ध्यान) की भावना पैदा करनी चाहिये।

तुम्हारा आसरा जो है

(लेखक—श्रीबालकृष्णजी बलदुवा, बी० ए०, एल्-एल्० बी०)

परीक्षाएँ चाहे जितनी ले लो !
अनुत्तीर्ण नहीं होऊँगा॥
तुम्हारा आसरा जो है॥
कसौटीपर चाहे जितना कस लो !
खरा ही उतरूँगा॥
तुम्हारा आसरा जो है॥
तोड़ दो, मन चाहे जितना तोड़ दो !
टूक टूक मन लेकर भी
थकूँगा नहीं, रुकूँगा नहीं, चलता ही रहूँगा तुम्हारी ओर॥
तुम्हारा आसरा जो है॥

योग्यताके अनुसार इतना ही मिलना चाहिये

[ऐतिहासिक कहानी]

(लेखक—श्रीकृष्णगोपालजी माथुर)

हिंदुत्वके परम हितैषी महाराज पेशवाके राज्यमें प्रतिवर्ष श्रावण मासमें पूनामें, सारे भारतवर्षके सर्वश्रेष्ठ पण्डितोंकी एक बृहत् सभाका आयोजन किया जाता था, जिसमें दूर-दूर नगरोंके कविकोविद, विद्वान्, कलाकार, साहित्यकार, ग्रन्थकार, देशभक्त, भगवद्भक्त आदि जन-प्रतिनिधि निर्वाचित होकर आते थे। उनके ठहराने, विश्राम, भोजन आदिका उत्तम-से-उत्तम प्रबन्ध किया जाता था। वे अपनी रचनाओंका पाठ एवं कलाओंका प्रदर्शन करते थे। उनकी योग्यताके अनुसार उन्हें दक्षिणा, सिरोपाव, प्रशंसापत्र आदि देकर सम्मानित किया जाता था। इसमें कई लाख रुपये बाँट दिये जाते थे। योग्यताके निर्णय करनेका काम श्रीराम-शास्त्रीको सौंपा जाता था, जो पेशवा-सर्वोच्च न्यायालयके प्रधान न्यायाधीशके उच्चपदपर नियुक्त थे। इनकी निर्भयता, पक्षपातहीनता एवं न्यायपरायणता चारों ओर प्रसिद्ध थी।

एक वर्ष विशाल सभागृहमें यह आयोजन किया गया। नगरके गण्यमान्य सज्जनोंको भी आमन्त्रितकर बुलाया गया। सभीको ससम्मान सुखासनोंपर बैठानेके पश्चात् विद्वान् अपनी-अपनी रचनाओंकी सूक्ष्म विशेषताएँ समझाते हुए, काव्यकलापूर्ण रचनाएँ सुनाने लगे। रामशास्त्री उनपर निर्णय दे पारितोषिक बाँटनेमें दत्तचित्त हुए। नाना फड़नवीसके पास कई लाख रुपयोंसे भरी थैलियाँ रख दी गयी थीं। उनमेंसे रामशास्त्रीके संकेतके अनुसार रुपये गिनकर नाना फड़नवीस उन्हें देते और वे उस राशिको पण्डितोंके करकमलोंमें सादर समर्पित करते जाते थे।

× × ×

यह क्रम चल ही रहा था कि एक दुबला-पतला अधेड़ व्यक्ति पण्डितोंकी पंक्तिमेंसे निकलकर रामशास्त्रीके सामने आकर बैठ गया। शास्त्रीजीने उसे मन-ही-मन प्रणाम तो किया, किंतु प्रकटमें उसकी ओरसे मुँह दूसरी ओर फेर लिया। वह व्यक्ति मौन था। साधारण प्रश्नका भी कोई उत्तर नहीं दिया उसने। यह देख सभीकी आपसमें चर्चा चली—

"जान पड़ता है, यह विद्याविहीन है; पर शायद 'गुदड़ीमें लाल' वाली कहावत चरितार्थ कर दे और ऐसी मनोहारी रचना सुनावे कि सभी श्रोता मन्त्रमुग्ध-से हो जायँ। वारी आने ही वाली है, जब कि उसकी वाणीका चमत्कार फूट निकलेगा। ठीक तो है—

भले बुरे सब एक-से, जौ लौं बोलत नाहिं।
जान परत है काक पिक, ऋतु बसंत के माहिं॥

'अजी, गरीबीका मारा मुफ्तका इनाम लेने आ गया है, पर है सज्जन; क्योंकि सज्जनोंके पास सज्जन ही आकर इकट्ठे होते हैं—जैसे समुद्रमें नदियाँ।* देखो, अभी रामशास्त्रीकी परीक्षामें रहस्य खुल ही जायगा।"

'हाँ जी, यह मौन पण्डित सुदामा-तन्दुलकी पोटलीके समान काव्य-निधि अपनी वाणीमें भरकर लाया है, अभी उसे बिखेरनेही वाला है।' 'नहीं जी, गरजनेवाले बादल बरसते नहीं हैं—निरक्षर भट्टाचार्य ही समझो इसे।'

× × ×

नाना प्रकारके ऐसे विचारोंके साथ ही सबकी दृष्टि रामशास्त्रीकी ओर लगी थी। प्रतीक्षामें थे कि कब शास्त्रीजी इसे रचना सुनानेका आदेश दें। किंतु शास्त्री विमुख ही रहे। यह देख सबको विस्मय हुआ। रामशास्त्री-जैसा न्यायपरायण न्यायाधीश आज चुप क्यों है? भारी अचम्भेकी बात तो यह है कि अबतक शास्त्रीजी जिस हँसी-खुशीके साथ दक्षिणा बाँट रहे थे, वह इसे देखकर एक-दम कहाँ विलीन हो गयी? सभी उकता गये थे।

इतनेमें ही संकेत पाकर नाना फड़नवीसने बीस रुपये गिनकर रामशास्त्रीके हाथमें दिये। किंतु यह क्या? शास्त्रीने केवल दो रुपये रखकर शेष अठारह रुपये वापस लौटा दिये।

---

* आछोड़ा ढिग आय, यूँ आछा भेळा हुवै।
ज्यूँ सागर में जाय, रळे नदी जळ 'राजिया'॥

(मारवाड़ी बोलीमें राजियाका सोरठा)

लोगोंने देखा कि बिना परीक्षाके दो रुपये इनाम, अठारह रुपये वापस। यह अद्भुत बात है—रहस्यभरी!

नाना फड़नवीस पूरे २०) रुपये देनेका बार-बार आग्रह कर रहे थे—२०) रुपये शास्त्रीकी ओर बढ़ा रहे थे, किंतु शास्त्री बार-बार दृढ़तापूर्वक कह रहे थे—'नहीं, नाना साहब! योग्यताके अनुसार इनको इतना ही मिलना चाहिये। कुछ भी अधिक नहीं।' यह बात नाना फड़नवीसको कुछ कटु लगी।

× × × × ×

पारितोषिक-वितरणके पश्चात् सभीने अपने-अपने स्थानको प्रस्थान किया—थोड़ी चर्चा करते हुए। 'क्यों जी! क्या इनाम दिया उस मूर्खराजको?' 'भाईजी! ऐसे ओछे शब्द कहनेसे उन महानुभावका अपमान होता है। वे भी मानव हैं हम-जैसे ही। हमको अपनी विद्याका गर्व नहीं करना चाहिये।'

इधर रामशास्त्रीने हिसाब मिलान करके नाना फड़नवीसके समक्ष शेष निधि कोषाध्यक्षको सँभला दी और वे भवनकी ओर चले। मन-ही-मन प्रसन्न होते जा रहे थे कि आज मैंने निष्पक्षतासे स्वामीका कार्य पूर्ण किया; किंतु नानाजी मनमें कुछ कुपित अवश्य हुए हैं।

इन विचारोंके साथ रामशास्त्रीने भवनमें प्रवेश कर सबको उदास बैठे देखा। रामशास्त्री घरमें केवल एक दिनका भोजनादिका सामान रखकर शेष गरीबोंको बाँट दिया करते थे। इसलिये तो सबको उदासी नहीं थी; किंतु असली कारण समझकर शास्त्री अश्रु बहाते हुए उनके चरणोंमें गिर पड़े, उन्होंने भी प्रेमाश्रु बहाते हुए उन्हें उठाकर गलेसे लगाया।

रामशास्त्री अति विनम्रभावसे बोले—"आपको क्या आवश्यकता थी—वहाँ जानेकी? मैं आपके चरणोंका अनन्य सेवक हूँ। आपका अपमान, वह मेरा अपमान। पर मुझे तो वहाँ निष्पक्ष ही रहना था। असली बात किसीको नहीं बतायी। अब आप कुछ भी विचार न कर सदाकी भाँति मुझपर—सारे परिवारपर—मुझसे सेवा लेते हुए प्रसन्न रहें। यह लें नयी तुलसीकी माला और निरन्तर—'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' मन्त्रका जप करते रहें। यही जीवनका सार है।"

दूसरे दिन प्रातःकाल शास्त्रीजी नाना फड़नवीसके भवन-पर गये। सूचना अंदर भिजवायी। 'रामशास्त्री तो समयके पूरे पाबंद हैं, नियत समयपर आते-जाते हैं। आज असमयमें उनका आना भेदसे खाली नहीं है।' इस कौतूहलको शीघ्र शान्त करनेके निमित्त उन्होंने शास्त्रीजीको प्रासादके भीतर बुलवाया।

वहाँ सुखासनपर बैठकर रामशास्त्री कहने लगे—'कल मेरा व्यवहार आपको अटपटा लगा होगा, किंतु उसका रहस्य अब खोले देता हूँ। जिनको मैंने केवल दो रुपये दिलवाये और आपके बहुत आग्रह करनेपर भी एक पाई भी अधिक नहीं देने दी, वे मेरे सगे बड़े भाई थे—विद्याविहीन। उनकी इच्छा थी कि अन्य विद्वानोंकी भाँति पारितोषिक देकर उनका भी सम्मान किया जाय। अपने भवनपर मैं उनके चरणोंकी पूजा करता हूँ, किंतु वहाँ तो मुझे निष्पक्ष न्याय ही करना था। इसीसे आपको अधिक न देनेके लिये बाध्य किया। इस व्यवहारसे आपके मनमें कुछ हेय भावनाका उदय हुआ हो तो कृपया उसको बिल्कुल निकाल देनेकी उदारता करें। निष्कपट भावसे सदा स्वामीकी सेवा करते रहना मेरा परम कर्तव्य है।'

रामशास्त्रीकी ऐसी शुद्ध, सरल एवं स्वामिभक्तिसे पूर्ण निष्पक्ष बातें सुनकर नाना फड़नवीसको बड़ा आनन्द मिला। वे अत्यन्त प्रसन्न होकर बोले—'प्रिय शास्त्रीजी! आप हमारे राज्यके अनमोल रत्न हैं। आप सरीखे स्वामिभक्त न्यायाधीशको पाकर राज्य धन्य हुआ है—उसका यश बढ़ा है।'

यह कहकर गुणग्राही नाना साहबने रामशास्त्रीकी पद-वृद्धि करवाकर, उनका सम्मान और भी बढ़वाकर जनताकी दृष्टिमें उन्हें महान् सज्जन एवं राजा-प्रजाका परम भक्त प्रमाणित किया।

मानवकी सुप्त शक्तियों और सद्भावनाओंको जाग्रत् करना आवश्यक

(लेखक—श्रीअगरचंदजी नाहटा)

संसार विचित्रताओंका भण्डार है। प्रकृतिने प्रत्येक प्राणीमें रूप, रंग, आकृति, आवाज, रुचि आदिकी भिन्नता रक्खी है, जिससे प्रत्येक व्यक्तिका अपना-अपना व्यक्तित्व सिद्ध होता है, अर्थात् बहुत बातोंमें ऐसी मौलिक भिन्नता या विशेषता पायी जाती है, जिससे उनकी स्वतन्त्र रूपसे पहिचान हो सके।

वैसे तो समय-समयपर मानवकी रुचि और मान्यतापर अच्छाई और बुराई आधारित है, पर बहुत-सी बातें ऐसी भी होती हैं, जिनपर देश, काल एवं परिस्थितिका प्रभाव नहीं पड़ता। कोई बुरी बात सब समयके लिये बुरी ही मानी जाती है, तो कई अच्छी बातें चिरकालसे अच्छी ही मानी जाती रही हैं। अच्छाई और बुराईका सम्बन्ध जुड़ा हुआ-सा है। एक ही व्यक्तिमें कुछ बातें भली हैं, तो कुछ बुरी भी मिलती हैं। सब समय किसी व्यक्तिके भाव एक-से नहीं रहते। अतः अच्छा व्यक्ति भी बुरा बन जाता है और बुरा अच्छा। इससे यह सिद्ध होता है कि प्रत्येक व्यक्तिमें बुराईके साथ अच्छाई भी रहती है और सदाके लिये कोई व्यक्ति बुरा भी नहीं होता।

भारतीय मनीषियोंने मानवकी वृत्ति एवं प्रवृत्तियोंको दो या तीन भागोंमें बाँट दिया है—दैवी और आसुरी तथा सात्त्विक, राजसिक और तामसिक। ये प्राचीन ग्रन्थोक्त भेद हैं। प्रकृतिसे ही मानवमें अच्छी और बुरी वृत्तियोंका चक्र चलता रहता है, उसे देवासुर-संग्राम भी कहा गया है।

दुष्ट व्यक्तियोंमें भी सात्त्विक भाव होते अवश्य हैं। इस बातका हम इस तरहसे भी अनुभव कर सकते हैं कि पवित्र वातावरण एवं सत्पुरुषोंकी सत्संगतिमें रहनेसे दुष्ट भी शिष्ट बन जाते हैं। इससे यह मालूम होता है कि सात्त्विक भाव उसमें विद्यमान अवश्य था, पर वह दबा हुआ था, जो अच्छे निमित्तोंको पाकर प्रकट हो गया। इसीलिये महापुरुषोंने पापियोंसे घृणा न कर पापसे घृणा करनेका उपदेश दिया है। संत-महात्माओंने सदा यही काम किया है कि उन्होंने जनताकी सोयी या दबी हुई अच्छी वृत्तियों एवं शक्तियोंको जाग्रत् एवं प्रकट कर दिया। इसके लिये सबसे पहिले उन्होंने अपने जीवनको उठाया, अर्थात् महान् साधना की; क्योंकि व्यक्तिका प्रभाव बिना उसमें विशेष गुण प्रकट हुए दूसरोंपर यथेष्ट रूपसे नहीं पड़ता। साधकका मौन, असाधकके लंबे व्याख्यानोंसे भी अधिक प्रभावशाली होता है; क्योंकि उसके पवित्र जीवनसे दूसरोंके हृदयमें उसके लिये आदर एवं भक्ति-भाव स्वयं प्रकट हो जाता है और उस आदर-भावके प्रकट होनेके बाद उस व्यक्तिका एक-एक शब्द जादूका-सा असर करता है। हम देखते हैं 'अंगुलीमल'-जैसा भयानक डाकू और महान् घातक व्यक्ति भी भगवान् बुद्धके सम्पर्कमें आते ही साधु पुरुष बन जाता है। इसी तरह 'अर्जुन माली' भगवान् महावीरका शिष्य बन जाता है, जो कि सात व्यक्तियोंकी हत्या रोज करता था, अर्थात् महापुरुषोंके उपदेश, सत्संग या जीवनकी घटना-विशेषसे दूसरोंके हृदयमें परिवर्तन हो जाता है।

इस युगमें भी महात्मा गाँधी-जैसे युग-प्रवर्तक हुए, जिन्होंने अहिंसा, सत्य एवं सेवाके द्वारा लाखों व्यक्तियोंको अपना अनुगामी बना लिया। उनकी वाणीमें इतना बल आ गया था कि लाखों व्यक्ति उनके संकेतमात्रसे 'स्वराज्य' के लिये प्राणोंका बलिदान देनेको तैयार हो गये और उसीके परिणामस्वरूप भारत स्वतन्त्र हुआ। आज भी महात्मा विनोबा, जो मानवमें रही हुई सद्वृत्तियोंपर अटल विश्वास रखते हैं, हजारों-लाखों व्यक्तियोंके प्रेरणा-केन्द्र हैं। जो काम सरकार नहीं कर सकती, हजारों व्यक्तियों—सत्ता एवं अधिकारके बलपर नहीं किया जा सकता, वह काम उन्होंने मानव-हृदयको उद्बुद्ध करके सहजहीमें कर दिखाया। लाखों एकड़ भूमि और ग्राम-दानादि उन्होंने गाँव-गाँव घूमकर, लोगोंका हृदय परिवर्तन करके प्राप्त कर ली है; कइयोंने तो जीवन-दान भी दे दिया है। हृदय-परिवर्तन एवं सद्वृत्तियोंको जाग्रत् करनेका यह अनुपम उदाहरण है। नारी-जातिकी सुप्त शक्तियोंको प्रकट करनेमें भी वे प्रयत्नशील हैं। कई बड़े-बड़े डाकू भी आत्म-समर्पण करते हुए उनके शरणापन्न हो गये। इस युगका यह महान् चमत्कार मानवमें बसी हुई सद्वृत्तियोंके प्रति परम आस्था पैदा करता है और उन वृत्तियोंको जाग्रत् करनेका महान् संदेश देता है।

हम देखते हैं कि माँकी गोदसे जन्म ग्रहण करते

ही कोई बच्चा दुष्ट नहीं होता। सरल एवं भोला-सा लगने-वाला सीधा-सा लड़का क्रमशः आस-पासके वातावरणादिसे दुष्ट बन जाता है, अनेक कुसंस्कार उसमें प्रवेश कर जाते हैं, बुरी आदतें पड़ जाती हैं। इसलिये सङ्गका प्रभाव बड़ा काम करता है, यह तो प्रत्यक्ष ही है। चाहे कुछ देरीसे हो या कम मात्रामें हो, पर सत्संगका प्रभाव भी पड़ेगा ही, इसीलिये संत-समागममें आते रहनेसे आत्माकी सद्वृत्तियों-के जाग्रत् होनेमें बड़ी सहायता मिलती है। यह प्रत्येक व्यक्ति-के अनुभवका विषय है, अतः सत्संगके माहात्म्यपर विशेष लिखनेकी आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। अनन्त व्यक्तियोंने प्रेरणा पाकर अपनी सुप्त शक्तियोंको प्रकट किया है और भविष्यमें भी करते रहेंगे।

आत्मामें अनन्त शक्तियाँ हैं, उसका हमें ठीक ज्ञान और भान नहीं है। अभ्याससे शक्तियोंका विकास होता है। नारी-को अबला कहकर उसे पुरुषार्थहीन बना दिया गया, अन्यथा शक्तिकी उसमें कमी नहीं। इसी तरह प्रत्येक व्यक्तिकी सुप्त शक्तियोंको जाग्रत् कर उसे सन्मार्गपर ले जानेकी आवश्यकता है। विज्ञानने आज अद्भुत आविष्कार करके परमाणुओंकी अनन्त शक्तिको प्रत्यक्ष कर दिया है। जब भौतिक जड पदार्थोंमें भी इतनी महान् शक्ति है, तथा अभी और अनन्त सम्भावनाएँ हैं, तब चैतन्यस्वरूप आत्माकी शक्तिका तो पार ही नहीं है। हमारे ऋषि-मुनियोंके प्राप्त विवरणोंसे उसका कुछ आभास हमें मिल ही जाता है। योगसूत्रके 'विभूतिपाद' में एवं जैनागमोंमें लब्धियों, शक्तियोंका विवरण है, उससे स्पष्ट है कि अभीतक विज्ञान भी बहुत-सी बातोंमें वहाँतक नहीं पहुँच पाया है। देवों और विद्याधरोंमें तो अचिन्त्य शक्ति थी ही, पर मनुष्योंमें भी आध्यात्मिक शक्तियाँ इतनी विकसित हो चुकी थीं कि आकाशमें उड़नेके लिये वायुयान आदि बाह्य साधनोंके बिना केवल मन्त्र-विद्या या इच्छाशक्तिसे भी जहाँ चाहते, पहुँच सकते थे। अवधि ज्ञान, मनर्पयव ज्ञान एवं केवल ज्ञानकी शक्ति देखें तो आजका ज्ञान-विज्ञान उसके सामने कुछ भी नहीं है। कहनेका आशय यही है कि आत्मा-में अचिन्त्य एवं अनन्त शक्ति है, उसे जाग्रत् एवं प्रकट करना है। सद्वृत्तियों एवं सद्गुणोंका विकास करना है। हृदय-परिवर्तनकी कला प्राप्त करनी है, जिससे मानव-मात्रका मङ्गल हो।

दण्ड, बलात्कार या दबावसे मनुष्यकी वृत्तियाँ नहीं सुधरतीं, केवल दबती नजर आती हैं, पर हृदय-परिवर्तनसे तो काया-पलट ही हो जाता है, अतः हृदयस्थित सद्वृत्तियों-को विकसित करना आवश्यक है। अभ्याससे शक्ति विकसित होती है। अतः उसको भी आदर देना चाहिये।

भारत अहिंसा-प्रधान देश है। अपराधियोंका सुधार भी अहिंसा अर्थात् उद्बोध देकर और उनका हृदय-परिवर्तन कर, उनकी सुप्त सद्भावनाओंको जाग्रत् किया जाना वाञ्छनीय है। इस सम्बन्धमें हमारी सरकारने कई जेलोंमें कैदियोंको सुधारनेका जो कदम उठाया है, वह सराहनीय है। रोगीका इलाज तो करना आवश्यक है, पर उससे भी आवश्यक है कि रोगोंकी उत्पत्तिके कारणको जानकर उससे बचा जाय, जिससे रोग उत्पन्न ही न हो। इसी तरह मनुष्य बहुत बार आवेशमें आकर अविचारित अपराध या पाप कर बैठता है। बहुत बार इसके लिये उसे स्वयं भी पश्चात्ताप होता है। अतः उसे कठोर दण्डकी अपेक्षा सत्प्रेरणा दी जाय तो बहुत-से अपराध रुक सकते हैं और अपराधियोंका जीवन सुधर सकता है। इसलिये हमें मानवकी सद्वृत्तियोंको जाग्रत् करने-का अधिकाधिक प्रयत्न करना चाहिये। फाँसीकी सजा तो भारत सरकारको बंद ही कर देनी चाहिये। इससे केवल आतङ्क और भय भले ही फैले, पर जीवनका सुधार नहीं होता।

आज भी हमारे संत-महात्माओंके उपदेशसे लाखों व्यक्तियोंका हृदय-परिवर्तन होता है एवं वे बुरी बातोंसे, दुर्व्यसनोंसे मुक्त होते नजर आते हैं। अज्ञान एवं अविचार या अविवेक और कुसंगतिके कारण करोड़ों लोगोंका जीवन बरबाद हो रहा है। उनमें विवेक जाग्रत् करना परमावश्यक है। विस्मृत एवं सुप्त सद्वृत्तियोंके जाग्रत् होते ही उनका सहज ही कायापलट हो जायगा। भ्रान्त एवं भूले-भटके मानवोंको सदुपदेश, सत्साहित्यादिद्वारा सत्प्रेरणा देते रहना जरूरी है। आजका पापी कल धर्मात्मा बन सकता है, इसपर आस्था रख अपना कर्तव्य करते जाइये; इसका परिणाम अवश्य ही शुभ एवं कल्याणकारी होगा। हमारे महापुरुषोंके यही संदेश हैं।

पशुपति

(लेखक—श्रीसुदर्शनसिंहजी)

'पशुः पाशबद्धः ।'

जो पाशसे बँधा है, वह पशु । इन पशुओंका स्वामी 'पशुपति' ।

पशुपति और गोपाल—दो अर्थ लगते हैं क्या ? वैसे कन्हाई ढेरों गायें चराता है और कैलासपर पशुओंके नामपर केवल दो हैं—एक भोलेबाबाका नादिया और दूसरा भगवती उमाका सिंह । आप तीन गिनना चाहें तो गणेशजीके चूहेको भी गिन लीजिये ।

आप पशु हैं या नहीं ? मनुष्यकी चर्चा मत कीजिये । या तो वह पाशमुक्त है या पशु है—द्विपाद पशु ।

पाश !

ठीक प्रश्न है । बन्धनको समझे बिना जो लोग मोक्ष पाने चल पड़ते हैं, वे भटक जाते हैं । वे ठगे जाते हैं । बँधे बछड़ेके गलेकी रस्सी न खोली जाय और उसे शङ्खध्वनि सुनायी जाय, इत्र सुँघाया जाय, दीपज्योति दिखायी जाय, लड्डू खिलाये जायँ, गद्दा बिछाया जाय उसके सोने-बैठनेको । मुक्त हो जायगा वह ?

कोई रूप या ज्योतिदर्शन, कोई नाद-श्रवण, कोई रसानुभव, कोई गन्ध या कोई स्पर्शानुभूति—वह ऐन्द्रियक हो या अतीन्द्रिय, विषय-संयोगज हो या दिव्य, लौकिक हो या अलौकिक, जीवको मुक्त कर नहीं सकती, यदि उसके पाश टूट नहीं गये हैं ।

देहासक्ति, यश-आसक्ति, सम्बन्धासक्ति, द्रव्यासक्ति, भोगासक्ति, गुणासक्ति, ऐश्वर्यासक्ति और अहंतासक्ति—ये आठ पाश हैं । इस अष्टगुणित रस्सीसे बँधा है प्राणी । इनमें एक भी अवशिष्ट है तो वह बँधा है । आप पशु हैं या नहीं—यह आप स्वयं अनुभव कर सकते हैं ।

कन्हाई 'गोपाल' है । भगवान् शंकर 'पशुपति' हैं । श्यामको अपनी गायोंसे स्नेह नहीं है—यह किसने कहा ? पशुपति अपने पशुओंसे प्यार नहीं करते, यह सोचे वह बुद्धिहीन । असीम स्नेह है उनका अपने पशुओंपर । इन पशुओंके पालन-पोषण-रक्षणको वे अपना दायित्व मानते हैं ।

पशु ही तो—कभी उत्पथ दौड़ते हैं और पशुपतिको अपना लगुड़ उठाना पड़ता है । दण्ड किसीको प्रिय नहीं लगता, दण्ड सदा भयंकर होता है; किंतु अज्ञ पशुके लिये दण्ड उसका संरक्षक है । उसे सत्पथपर लानेवाला है ।

पशु कहीं स्वच्छता-अस्वच्छता समझता है ? इसे स्नान कराने, मलने-धोनेका काम पशुपतिका है । यह बहुत हुआ तो अपनेको थोड़ा चाट लेगा या दूसरे सहयोगीको चाटकर स्वच्छ करनेका प्रयत्न करेगा । इतनेसे कहीं स्वच्छताका सम्पादन होता है ? पशुपति धोता है इन्हें । इस क्षालनमें स्नेह है—पशु असुविधा अथवा क्लेशका अनुभव करता है, यह अज्ञता है उसकी ।

बहुत उदार, बहुत स्नेही है यह त्रिनयन पशुपति । करुणावरुणालय है गोपाल । जो पशु उसकी ओर मुखकर हुंकार करता है—उसे पुकारता है, स्वयं उसके समीप यह दौड़ जाता है । जो इसकी ओर गर्दन बढ़ाता है, उसे इसके अमृतस्यन्दी कर सहलाने लगते हैं ।

पशुका दुःख है कि यह पशुपतिसे विमुख भागता-दौड़ता है । स्वयं अपने नेत्र एवं बुद्धिपर विश्वास करके जहाँ हरियाली दीखी, मुँह मारने झपट पड़ा । हरी घासकी टोहमें भटक रहा है यह और बार-बार अवरुद्ध होता है । बार-बार डाँटा जाता है ।

इसको पता नहीं कि इसका पालक प्रमाद नहीं करता । इसके लिये चारे-दानेकी उसे स्वयं चिन्ता है और उसकी सम्पूर्ण व्यवस्था उसने कर रक्खी है । भ्रान्त पशु भटकता है—भटकता है और दुःख पाता है । पशुपति भी दण्डहस्त होकर ही तो इसे निरुद्ध कर सकता है ।

पशुका सुख—यह स्वामीको अपनी हुंकृतिसे पुकार ले तो इसका स्वामी स्वयं आ जाय इसके समीप । वह सुकोमल तृण इसके मुखमें अपने करोंसे देकर प्रसन्न हो । यह अपने पशुपतिकी ओर सिर बढ़ा दे तो उसके कर-स्पर्शका परमानन्द प्राप्त हो इसे ।

मैं योगकी बात नहीं कह रहा हूँ—भोगकी ही बात कह रहा हूँ । आज मनुष्यका सबसे बड़ा दुर्भाग्य यह है कि

वह न भगवान्पर भरोसा करता, न प्रारब्धपर और न सत्कर्मपर। वह भरोसा करता है झूठ, छल, कपट, चोरी, घूसखोरीपर। वह पापका चरणाश्रित बन गया है। और कोई पापका अनुगामी बनेगा तो कहाँ जायगा ? पशुपतिका दण्ड उसे रक्षाके पथपर लानेको न उठे, तो वह पशुपति ही कैसा ? लेकिन पशुओंको सदा बाँधकर ही रक्खा जाय, ऐसा क्रूर तो वह नहीं बन सकता। इनको चरने-घूमनेकी स्वतन्त्रता एक बड़ी सीमातक उसने दे रक्खी है।

भोगकी-सांसारिक सुख-सुविधाकी ही बात कह रहा हूँ। गोस्वामी तुलसीदासजी अपना अनुभव बतलाते हैं—

चाटत रह्यों स्वान-पातरि ज्यों कबहुँ न पेट भरयो।
सो हौं सुमिरत नाम सुधारस पेखत परसि धरयो॥

कुत्तोंकी भाँति परस्पर झगड़ते, एक दूसरेको भूँकते-काटते, जूँठी पत्तलोंपर टूटे पड़ रहे हैं ये प्राणी और उन पत्तलोंमेंसे कुछ चाटनेको मिल जाय तो इनकी बड़ी सफलता।

जूँठी पत्तलें नहीं—अमृतरस पहलेसे परस रक्खा है तुम्हारे लिये तुम्हारे उस पशुपतिने। उसकी ओर देखो—उसके सम्मुख जाओ। और यह तुम्हारी अपनी अनुभूति बनकर रहेगी कि अभावकी सृष्टि तुम्हारे लिये संसारमें नहीं हुई। तुम्हारा सर्वसमर्थ परमोदार पालक तुम्हारे लिये सतत सचेष्ट है।

पशु-स्वभाव ही है—अपने सम्मुखका चारा छोड़कर समीपके पशुका चारा खानेको मुख बढ़ाता है। स्वामी डाँटेगा ही। जिसका स्वत्व लेने जाओगे, वह झगड़ेगा और समर्थ होगा तो मारेगा।

'मैं पशु नहीं हूँ, आप पशु हैं।' यदि अब मैं यह कहूँ तो आप मुझे गाली देंगे। सच बात यही है कि आप भी पशु नहीं हैं।

तब पशु कौन है ?

जीव कोई पशु नहीं है।

जीव पशु नहीं है ? कोई पशु नहीं है तो पशुपति कैसा ? गायें ही न हों तो कृष्णको गोपाल कहेगा कौन ?

मैंने पहले ही कहा कि भोगकी बात—ऐन्द्रियक भोगोंकी बात कर रहा हूँ। ये इन्द्रियाँ गायें हैं। इन इन्द्रियोंसहित यह देह पशु है। इस देहमें, देहके नाम-रूप-गुण तथा देहके मान-सम्मानमें, देहके सम्बन्धियोंमें, जब आप आसक्त होते हैं, तब आप पशु होते हैं। पशुको अपना 'मैं' स्वीकार कर ले—वह पशु। अब आप निर्णय कर लें कि आप पशु हैं या नहीं।

यह नन्दलाल खिलाड़ी है। इसके सखा—भोले बालक खेलमें लग गये हैं। बालक बन गये गाय और बछड़े और यह बन गया है चरवाहा। अनादिकालसे चल रही है यह क्रीड़ा।

पशुओंका—पशुत्वका सुख भी इसीमें है, इसीमें कल्याण है कि वह पशुपतिके सम्मुख हो। भोगकी भी पूर्णता, शुद्धता, स्वच्छता एवं अनुकूलता तभी है, जब आप पशुपतिके सांनिध्यमें उसे प्राप्त करते हैं।

किसने कहा कि आप पशु बने रहें ?

पशुसे—पाशबद्ध देह एवं दैहिक तत्त्वोंसे अपना तादात्म्य पृथक् कर लें और आप स्वतन्त्र।

आप शिवके, जगदम्बाके या गणेशजीके वाहन बनना चाहें तो भी आपको कोई रोकता नहीं। आप पाशमुक्त हुए और स्वतन्त्र—आपकी इच्छा हो सो बनिये।

शिवका वाहन है वृषभ—मूर्तिमान् धर्म। आपको धर्म प्रिय है ?

शक्तिका वाहन है सिंह—मूर्तिमान् पराक्रम, किंतु अत्यन्त सुनियन्त्रित। ऐसा पराक्रम प्रिय लगता है ?

गणेशका वाहन है मूषक—चपलता, चातुर्य एवं अद्भुत क्षमताका विचित्र सामञ्जस्य।

पाश कैसे छूटे ?

ठीक बात—पाशमुक्त हुए बिना तो जीव पशु है और पशुको कुछ बननेकी स्वतन्त्रता नहीं होती। यह पाशमुक्त हो तो आगे सोचना सार्थक।

समस्त आध्यात्मिक साधन पाश-मोचनके लिये ही हैं। आप उनमेंसे क्या चुनते हैं, यह आपकी रुचि—आपका अधिकार; किंतु इतना स्मरण रखना है कि साधनोंकी सफलता ग्रन्थि-भेद—पाशके छेदनमें है।

योग, ज्ञान, भक्ति, कर्मयोग—अब इनमें भी कई-कई शाखा-प्रशाखाएँ। आप किसे अपना सकेंगे, यह अपनी शक्ति-सामर्थ्य देखकर आप निश्चय करें।

मुझे सीधा सरल लगता है—'बाबा! यह पाश अब तू ही काट दे। मेरे वशकी बात यह नहीं है।'

बाबाने कब अस्वीकार किया ? वे तो हैं ही मोक्षदाता ।

भगवान् विश्वनाथको तो मुक्ति-दानका व्यसन है । काशीमें मरनेवाले प्रत्येक प्राणीको वे मुक्त करते हैं । उनसे कोई मुक्ति माँगेगा तो उसे दुर्लभ रहेगी ?

'कन्हाई ! बहुत हो चुका खेल ! मैं अब गाय या बछड़ा नहीं बनता ।' आपने यह कहा नहीं । मोहन तो कबसे आपको हृदयसे लिपटा लेनेको आतुर है ।

आप पशु बने रहनेमें संतुष्ट हैं तो शिव पशुपति हैं । आप पाश-मुक्त होना चाहते हैं तो वे शिव तो हैं ही । परम कल्याण ही उनका स्वरूप है ।

पाश—ये पशुपतिके समीप नहीं हैं । वे दयामय अपनी ओरसे किसीको बाँधते नहीं । वे केवल पशुपति हैं । जो बँधकर पशु बन गये हैं—दयनीय हैं, पराधीन हैं, विवश हैं और अज्ञ हैं वे प्राणी । उनका पालन-रक्षण दयापरवश ही वे प्रभु करते हैं ।

पाश हैं मायाके—अविद्याके और इनमें आप स्वयं उलझ गये हैं । मायाने जाल फैलाया और उसमें मृग उलझ गया । बँधे-विवश मृगको सिंह खा न जाय, मृग क्षुधा-प्याससे मर न जाय—यह चिन्ता ले ली दयामय पशुपतिने । इस बँधे मृगका पालन करने लगे वे । पालन करते हैं ।

वे इस जालको काट दे सकते हैं—काट देना उन्हें प्रिय है; किंतु बाबा भोले हैं । उनका एक व्रत है—मृग स्वतःकी उछलकूद बंद करके उनकी ओर देखे, उनसे जाल काटनेकी आशा-आकाङ्क्षा करे ।

'बाबा ! तुम पशुपति हो ? इस देह-पशुका पालन करो तुम । इस मन-पशुका पालन करो । इस बुद्धि-पशुका पालन करो और इस अहंकाररूप हिंसक पशुका निग्रह करो । मैं तुम्हारा पुत्र । पशुत्वके पाश मुझसे दूर फेंक दो ।'

सुखकी खोज

[एक बोध-कथा]

(लेखक—प्रा० श्रीश्याममनोहरजी व्यास, एम्० एस्-सी०, बी० एड्०)

इब्राहिम बल्ख देशका बादशाह था । वह न्यायी, साहसी एवं धर्मात्मा राजा था ।

एक रात्रिको वह अपने विशाल प्रासादकी छतपर सो रहा था कि उसे द्वारपर कोई दस्तक सुनायी दी ।

उसने पूछा—'कौन है ?'

उत्तर मिला—'मैं एक ऊँटवाला ।'

'यहाँ क्यों आया है ?'

'मेरा ऊँट खो गया है, उसकी खोजमें आया हूँ ।'

बादशाह इब्राहिमने आश्चर्यसे पूछा—'महलकी छत-पर ऊँटका क्या काम ? कहीं तू पागल तो नहीं हो गया है ?'

उत्तर मिला—'बादशाह ! तुम मूल्यवान् कपड़े पहन-कर बहुत बड़े अमीर होनेका अभिमान मनमें भरकर और सिंहासनपर बैठकर ईश्वरको खोजते हो । मैं भी पूछता हूँ कि क्या तुम पागल नहीं हो ?'

यह कहनेवाला ईरानका एक प्रसिद्ध फकीर था । वह मस्त सूफी फकीर चला गया, पर ईश्वर-भक्त बादशाहके मनमें हलचल मच गयी ।

कुछ दिनों पश्चात् जब एक दिन बादशाह अपने बहुमूल्य सामग्रियोंसे सुसज्जित पुश्तैनी राजमहलमें शाही दीवानखानेमें स्वर्ण-सिंहासनपर बैठा था तो उसने देखा कि एक दिव्य पुरुष स्थिर दृष्टिसे उसे देखता हुआ वहाँ आया । उसके नेत्रोंमें ऐसा सम्मोहन था कि कोई उसे रोक नहीं सका ।

जब वह बादशाहके समीप पहुँच गया तो बादशाहने ही उससे पूछा—'आप कौन हैं ? किससे पूछकर यहाँ आये हैं ?'

आगन्तुक पुरुषने हँसकर कहा—'यहाँ आनेमें किसीसे पूछनेकी क्या जरूरत थी मुझे । खुशीसे आ गया और अब कुछ दिन यहीं रहनेका इरादा है ।'

बादशाहने कहा—'आपको पता नहीं, यह राजमहल है ?'

दिव्य पुरुषने उत्तर दिया—'नहीं, मैं तो इसे सराय समझता हूँ।'

बादशाहने आश्चर्यचकित होकर पूछा—'सराय कैसे ?'

उसने कहा—'जरा, यह बताओ कि क्या तुम्हारे पहले भी यहाँ कोई रहता था ?'

बादशाहने उत्तर दिया—'हाँ, हाँ, मेरा पिता इसी महलमें रहता था।'

दिव्य पुरुषने फिर पूछा—'उससे पहले यहाँ कौन रहता था ?'

बादशाहने कहा—'मेरे पिताके पिता। मेरे दादाजी।'

उसने फिर पूछा—'और उससे पहले ?'

जब अपने वंशका परिचय देते-देते बादशाह थक-गया, तो उस महात्माने कहा—'जहाँ एक व्यक्ति आये, कुछ दिन रहे और फिर चला जाय तथा फिर उसकी जगह दूसरा व्यक्ति आ जाय तो वह सराय नहीं है तो और क्या है ?'

यह कहकर वह दिव्य पुरुष वहाँसे तेजीसे चला गया। वह दिव्य पुरुष और कोई नहीं, पहलेवाला फकीर ही था।

बादशाह उसी दिनसे बेचैन रहने लगा। फकीरके शब्द उसके मनमें गूँजने लगे।

एक दिन वह सुखकी खोजमें जंगलकी ओर चल पड़ा।

नदीके किनारे घूमते-घूमते उसने सुना—'मृत्यु तुम्हें जगाये, उससे पहले तुम स्वयं जग जाओ।'

अब तो बादशाहका मन पूरी तरहसे विरक्त हो गया। वह सच्चे सुखको पानेके लिये लालायित हो उठा।

उसे रास्तेमें एक भिखारी मिला। उसके वस्त्र फटे हुए थे, माथेपर पुरानी टोपी थी। बादशाह इब्राहिमने अपना स्वर्णजटित मुकुट उसके सिरपर रख दिया तथा अपनी शाही पोशाक भी उसे पहना दी और स्वयं भिखमंगेके वस्त्र पहन लिये।

बल्खका बादशाह फकीर बनकर सच्चे सुख–ईश्वरकी खोजमें निकल पड़ा।

ईश्वरकी खोजमें वह वन-वन भटका। एकान्त गुफामें उसने तप किया। जो कुछ मिला, उसीको ग्रहणकर उसने संतोष किया।

बल्खकी जनताने जब अपने बादशाहको फकीरके वेशमें देखा तो उसने उसकी रुपयों-पैसोंसे सेवा करनी चाही, पर बादशाह इसके लिये तैयार नहीं हुआ। वह तो विरक्त त्यागी साधु था, उसे धन-दौलतसे क्या लगाव।

एक बार एक व्यापारीने एक हजार सोनेकी मोहरें उसे भेंट करनी चाही।

इब्राहिमने उसे लौटाते हुए कहा—'मैं केवल दो रोटीके अतिरिक्त और कुछ नहीं चाहता। सो वह बिना माँगे ही ईश्वर देता है। यह धन मुझे नहीं चाहिये।'

एक बार एक व्यक्तिने उससे पूछा—'हम नित्य ईश्वर-को याद करते हैं, पर वह आता ही नहीं। क्या कारण है इसका ?'

संत इब्राहिमने उत्तर दिया—'तुम ईश्वरको याद करते हो; परंतु उससे प्रेम नहीं करते। तुम उसकी बात नहीं मानते और उसके नियमोंका पूरी तरहसे पालन नहीं करते हो। स्वर्गका द्वार तुम्हारे लिये खुला हुआ है, पर तुम द्वारतक पहुँचनेका प्रयास ही नहीं करते। पापका परिणाम बुरा होता है; यह तुम जानते हो फिर भी पाप करते हो।

'मृत्यु किसी भी क्षण आनेवाली है, यह तुम जानते हो, परंतु उसकी तैयारी नहीं करते! शैतान तुम्हारा शत्रु है, फिर भी तुम उससे मित्रता करते हो। यदि ईश्वरको पाना चाहते हो तो अपने हृदयको पवित्र बनाओ और दैवी सम्पदासे युक्त होओ। भोगोंकी अनासक्ति और ईश्वरसे अनुरक्ति ही तुम्हें ईश्वरके समीप ले जायगी।'

संत इब्राहिमने अपना शेष जीवन ईश्वर-चिन्तनमें ही व्यतीत किया। वे आगे चलकर ईरानके प्रसिद्ध संत हुए।

श्रीरामायणमें मांसाहार नहीं

(लेखक—विद्यावाचस्पति स्व० पं० श्रीबालचन्द्रजी शास्त्री)

यह तो सर्वसम्मत है कि भगवान् श्रीरामचन्द्र मर्यादा-पुरुषोत्तम हैं और उनका चरित्र परम विशुद्ध एवं आदर्श है। जिस प्रकार संसारी पामर जीव मद्यपान तथा मांस-भक्षणादि-जैसे घृणित कर्मोंमें लगे हुए हैं, उस प्रकार ऐसे निन्द्य कर्मोंमें जब भगवान्के भक्तजनोंका भी निरत होना सर्वथा असम्भव है, तब साक्षात् भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके विषयमें उक्त निन्द्याचरणकी कल्पना करना घोर अनर्थके सिवा क्या कहा जा सकता है। कुछ लोग भ्रमवश श्रीरामके चरित्रमें मांस-भक्षणका आरोप करते हैं और इसके प्रमाणमें वे श्रीवाल्मीकीय रामायणके उन श्लोकोंका आश्रय लेते हैं, जिनमें अर्थाभाससे इन कर्मोंकी प्रतीति होती है! पर खेद है कि वे भगवान् श्रीरामचन्द्रकी उन अटल और अखण्डनीय प्रतिज्ञाओंपर ध्यान नहीं देते।

अच्छा, अब सर्वप्रथम यह देखना चाहिये कि भगवान्की वे प्रतिज्ञाएँ कौन-सी हैं, जिनमें मांसादिसे विरत होनेके विषयमें कुछ कहा गया है। देखिये, वनगमनके समय महाराज दशरथ और महारानी कैकेयीके प्रति भगवान् राम क्या कहते हैं—

> चतुर्दश हि वर्षाणि वत्स्यामि विजने वने।
> कन्दमूलफलैर्जीवन् हित्वा मुनिवदामिषम्॥
> (वा० रा० २। २०। २९)

अर्थात् 'विजन वनमें मैं चौदह वर्षतक कन्द, मूल और फलोंसे जीवन व्यतीत करता हुआ मुनिजनोंकी तरह मांसको त्यागकर निवास करूँगा।' और भी कहा है—

> फलानि मूलानि च भक्षयन् वने
> गिरींश्च पश्यन् सरितः सरांसि च।
> वनं प्रविश्यैव विचित्रपादपं
> सुखी भविष्यामि तवास्तु निर्वृतिः।
> (वा० रा० २। ३४। ५९)

फिर मुनिराज भरद्वाजजीके प्रति भी भगवान्ने इसी वाक्यको कहा है—

> धर्ममेवाचरिष्यामस्तत्र मूलफलाशनाः॥
> (वा० रा० २। ५४। १६)

ये भगवान्की प्रतिज्ञाएँ हैं। इसके साथ यह भी ध्यान देने योग्य है कि मर्यादा-पुरुषोत्तमकी सामान्य प्रतिज्ञा अपने कथनके विषयमें क्या है—'रामो द्विर्नाभिभाषते'—रामचन्द्र दो बार नहीं कहते। अर्थात् एक बार जो कुछ कह दिया सो कह दिया, उसके विपरीत वे कदापि कुछ मनसा, वाचा, कर्मणा नहीं करते।

अच्छा, अब इन प्रतिज्ञाओंके विरुद्ध वाल्मीकीय रामायणके कुछ श्लोकोंकी, जिनमें अर्थाभास प्रतीत होता है, यथार्थ व्याख्यापर ध्यान दीजिये। चित्रकूटकी पर्णशालाके वास्तुकर्म-सम्पादनके लिये भगवान् श्रीरामचन्द्रने लक्ष्मणजीको इस प्रकार आज्ञा दी है—

> ऐणेयं मांसमाहृत्य शालां यक्ष्यामहे वयम्।
> (वा० रा० २। ५६। २२)

इसमें स्पष्टतया मांसकी प्रवृत्ति-सी प्रतीत अवश्य होती है, किंतु बात ऐसी नहीं है। इसकी यथार्थ व्याख्या इस प्रकार करना उचित है कि 'ऐणे' मृगछालापर बैठकर, 'यं' (यो वायौ इति मेदिनी) प्राणायाम करके, 'मां' (लोक-माता मा इत्यमरः) लक्ष्मीरूप सीताको, 'समाहृत्य' सम्यक् बैठाकर, 'वयं' हम, 'शालां यजामहे' शालाका यजन करेंगे। अथवा (दूसरा अर्थ) 'ऐ' हे लक्ष्मण, 'णे' (णः पानीयकलश इति मेदिनी) जल-कलशके समीप, 'यं' मरुत्वान् अर्थात् वास्तुदेवको, 'मां' दुर्गाको, 'सं' सर्पधारी गणेशजीको, 'आहृत्य' उनके मन्त्रोंसे आवाहन करके, 'वयं' हम शालाका यजन करेंगे। फिर श्रीरघुनाथजीका वाक्य है—

> मृगं हत्वाऽऽनय क्षिप्रं लक्ष्मणेह शुभेक्षण।
> (वा० रा० २। ५६। २३)

'मृग' नाम यहाँ गजकन्दका है। मदनपाल-निघण्टुमें कहा है—(मृगः पशौ कुरङ्गे गजे च इति शब्दस्तोमः।) इस स्थानपर 'कन्द' का लोप हो जाता है (विनापि प्रत्ययं पूर्वोत्तरयोः पदयोर्लोपो वाच्यः—महाभाष्य) तात्पर्य यह है कि हे लक्ष्मण! गजकन्दको उखाड़कर शीघ्र ले आओ। यहाँ 'क्षिप्रं' पदपर ध्यान दीजिये। क्या वहाँ मृग वध होनेके लिये खड़े थे, जो मारकर शीघ्र ला दिये जाते? 'शुभेक्षण'

सम्बोधन भी निरर्थक नहीं है। इसका प्रयोग श्रीलक्ष्मणजीके गजकन्द पहचाननेके चातुर्यको लक्ष्यमें रखकर किया गया है। भगवान् बार-बार कहते हैं कि 'कर्तव्यः शास्त्रदृष्टो हि विधिधर्ममनुस्मर।' उस समय भगवान् श्रीराम वानप्रस्थ-धर्मका पालन कर रहे हैं। शास्त्रोंमें वानप्रस्थाश्रमीके लिये केवल कन्द-मूल-फलोंके ही खानेकी आज्ञा दी गयी है। इसीलिये भगवती सीताका रावणको फल-भिक्षा ही देनेका वर्णन आता है। आगे लिखा है—

स लक्ष्मणः कृष्णमृगं हत्वा मेध्यं प्रतापवान्।
(वा० रा० २। ५६। २६)

यहाँ भी काली त्वचावाले गजकन्दके लिये ही 'कृष्णमृग' पदका प्रयोग है। फिर इसके आगे कहा गया है—

अथ चिक्षेप सौमित्रिः समिद्धे जातवेदसि॥
तत् तु पक्वं समाज्ञाय निष्टप्तं छिन्नशोणितम्।
(वा० रा० २। ५६। २६-२७)

लक्ष्मणजीने गजकन्दको अग्निमें डाल दिया। यहाँ 'निष्टप्त' पदपर ध्यान दीजिये। 'निस् तप्त' पदमें एक बार पकनेसे ही 'स' के स्थानपर 'ष' होकर 'निष्टप्त' पद बन जाता है। बारंबार अग्नि देनेसे 'ष' नहीं हो सकता। भगवान् पाणिनिका सूत्र है—'निसस्तपतावनासेवने।' कन्द ही शीघ्र एक बारकी अग्निसे पक जाता है, मृग-मांस शीघ्र नहीं पक सकता। 'छिन्नशोणित' का अर्थ है—नष्ट होता है रुधिर-विकार जिससे। गजकन्दके विषयमें वैद्यकशास्त्रमें लिखा है—'स्वग्दोषादिः कुष्टहन्ता' इति मदनपालः। इसके आगे यह श्लोक आता है—

अयं सर्वः समस्ताङ्गः शृतः कृष्णमृगो मया।
देवता देवसंकाश यजस्व कुशलो ह्यसि॥
(वा० रा० २। ५६। २८)

'सम्यग् भवन्ति अस्तानि अङ्गानि येन स समस्ताङ्गः'

अर्थात् लक्ष्मणजी कहते हैं कि 'सब सम्यक् अच्छे हो जाते हैं अङ्ग जिससे, ऐसा यह कृष्णमृग—काली त्वचावाला गजकन्द प्रस्तुत है, आप यजन कीजिये।' यहाँ 'मृग' पक्षके अर्थमें यह भी विरोध है कि 'समस्ताङ्ग मृग' को अग्निमें नहीं डाला जाता है। पुनः भगवान् विष्णुको मांस-बलि देनेका कहीं विधान नहीं है और यहाँ विष्णुको भी बलि देनेका वर्णन है। अच्छा, यह तो चित्रकूटस्थ पर्णशालाके विषयका उल्लेख है, किंतु आगे चलकर पञ्चवटीके प्रसंगमें फूलोंकी बलि चढ़ानेका विधान प्राप्त होता है। अतः यदि चित्रकूटमें मांस-बलिका विधान होता तो इससे भिन्न पञ्चवटीमें पुष्प-बलिका वर्णन क्यों किया जाता? फिर देखिये, भगवान्ने दशरथजीको बदरपिण्याकका पिण्ड ही अर्पण किया है। पिण्डदानके समय भगवान्ने निम्नरूपसे कहा है—

इदं भुङ्क्ष्व महाराज प्रीतो यदशना वयम्।
यदन्नः पुरुषो भवति तदन्नास्तस्य देवताः॥
(वा० रा० २। १०३। ३०)

इससे भी स्पष्ट है कि भगवान् श्रीराम फल-मूलका ही भक्षण करते थे।

रोहिमांसानि चोद्धृत्य पेशीकृत्वा महायशाः।
शकुनाय ददौ रामो रम्ये हरितशाद्वले॥
(वा० रा० ३। ६८। ३३)

यदि उपर्युक्त श्लोकके विषयमें यह शङ्का की जाय कि जटायुके लिये मांसपिण्ड क्यों दिया गया तो इसका उत्तर यह है कि यहाँपर इसका अर्थ 'मांसपिण्ड' नहीं है। 'रोहि' नाम बीजका है, उनका मांस अर्थात् गूदा निकालकर 'पेशी' यानी गोली बनाकर दी गयी है। मृगका नाम 'रोहिण' अकारान्त है। 'रोहि' नाम मृगका कहीं नहीं पाया जाता। यदि मृगका अर्थ लिया जाय तो बहुवचनमें इसका अर्थ बहुतसे मृगोंका मांस होगा, पर वहाँ तो पिण्ड ही दिया गया है। यद्यपि रामाभिरामीय टीकामें रोहि शब्दका अर्थ मृगवाची ही लिखा है, पर वहाँ कोई प्रमाण नहीं दिया गया है। शब्दस्तोममें—'रोहिशब्दो वृक्षे बीजे चेति' लिखा है और 'मांस' का अर्थ गूदा भी है। मदनपाल-निघण्टुमें 'बेर' के आगे लिखा है 'स मांसं मधुरं प्रोक्तं' गूदेसहित बेर मीठा होता है। अब 'पम्पा' का प्रकरण भी देखिये—

घृतपिण्डोपमान् स्थूलांस्तान् द्विजान् भक्षयिष्यथः।
रोहितान् वक्रतुण्डांश्च नलमीनांश्च राघव॥
पम्पायामिषुभिर्मत्स्यांस्तत्र राम वरान् हतान्।
निस्त्वक्पक्षानयस्तप्तानकृशानैककण्टकान्॥
तव भक्त्या समायुक्तो लक्ष्मणः सम्प्रदास्यति।
भृशं तान् खादतो मत्स्यान् पम्पायाः पुष्पसंचये॥
पद्मगन्धि शिवं वारि सुखशीतमनामयम्॥
अथ पुष्करपर्णेन लक्ष्मणः पाययिष्यति॥
(वा० रा० ३। ७३। १४—१८)

यह उक्ति श्रीरामचन्द्रजीके प्रति कबन्धकी है। आप दोनों भ्राता घृतपिण्डके समान कोमल स्थूल कटहल आदि

फलोंके गूदेको 'तान् द्विजान्'—उन पम्पासरोवरके आसपास वास करनेवाले पक्षियोंको भक्षण करायेंगे। हे राम! पम्पामें इषुभिः—(इषेर्गतिकर्मणः इति निरुक्तम्) अपनी चालोंसे, 'वर'—सुन्दर, 'हतान्'- अर्थात् संहतान्, यहाँ 'सं' का लोप हो गया है, उसी महाभाष्यके वार्तिकसे 'विनापि प्रत्ययं पूर्वोत्तरयोः पदयोर्लोपो वक्तव्यः।' इकट्ठे हुए, त्वचापक्ष-रहित, 'अयस्तप्त' (अय इव तप्त) अर्थात् लाल रंगकी मछलियाँ और रोहित, वक्रतुण्ड, नलमीनोंको भी आपकी भक्तिसे लक्ष्मणजी फलोंके गूदे डालेंगे। 'भृशं' अत्यन्त फल डालनेपर 'मत्स्यान् खादत' 'खादनं खादयस्तव' अर्थात् मछलियोंको भोजन डालनेवाले श्रीलक्ष्मणजी आपको कमल-पत्रोंके दोनोंमें जलपान करायेंगे। यहाँ 'स्थूल' पदके अर्थपर ध्यान न देनेके कारण ही टीकाकारोंने इस रहस्यको नहीं समझा है। यदि यह कहा जाय कि महर्षि वाल्मीकिजीने ऐसा संदिग्ध वर्णन क्यों किया तो श्रुति प्रमाण है—'परोक्ष-प्रिया देवाः प्रत्यक्षद्विषः।' देवताओंको परोक्ष ही प्रिय है, इसीके अनुसार आर्ष-ग्रन्थोंको भी समझना चाहिये। सबसे बढ़कर हमारे इस लेखके प्रमाणमें 'रामो द्विर्नाभिभाषते' यह भगवद्-वाक्य है। इस बातको लक्ष्यमें रखकर ही विचार करना चाहिये कि जब श्रीरामकी प्रतिज्ञा फल-मूल भक्षण करनेकी है, तब उनके विषयमें मांसका व्यवहार करना किस प्रकार सम्भव हो सकता है।*

'मैं अरु मोर तोर तैं माया'

(लेखक—श्रीरणजीतजी त्रिपाठी, एम्० ए०, 'हिंदी')

जगत्की वस्तुओंको अपनी बनानेका भाव भी माया-जन्य ही है। सम्पूर्ण अच्छी वस्तुएँ हमें ही पर्याप्त परिमाणमें प्राप्त होतीं और अपनी ही होकर रहतीं—ऐसी भावनाएँ सहजरूपसे मनमें जगती रहती हैं। जबतक वे वस्तुएँ, जिनकी प्राप्तिकी कामना होती है, अपनी नहीं हो जातीं, तबतक हमें चैन एवं संतोष प्राप्त नहीं होता है। परंतु कोई भी वस्तु सदा अपनी होकर नहीं रहती है।

पुनः वे सभी हमारे ही लिये हों—इस सहज स्वाभाविक भावनाके मूलमें भी मोह ही दिखायी पड़ता है। 'स्वत्व' अर्थमें किसी वस्तुको अपनाने या प्राप्त करनेकी चेष्टा करना तो बिल्कुल मोहकी दशाका प्रतिफलन है। लेकिन जिस माध्यमसे उन वस्तुओंके उपभोगकी इच्छा रहती है, वह है 'शरीर', जो नित्य विनाशी है। जिन वस्तुओंकी इच्छाएँ मनमें सदैव आती रहती हैं, वे वस्तुएँ भी विनाशी ही हैं। किंबहुना—यह जगत् ही विनाशी होनेके कारण क्षणभङ्गुर, मिथ्या एवं स्वप्नवत् होनेकी उपाधिसे अभिहित किया जाता है। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि विनाशी शरीरसे विनाशी वस्तुओंको प्राप्त करनेकी इच्छाएँ भी विनाशी ही हैं—मृगतृष्णाकी तरह भ्रमपूर्ण हैं। लेकिन प्राणियोंकी इच्छाएँ सदैव बलवती होकर उन असत् वस्तुओंकी प्राप्तिमें ही रमण करती हैं।

परंतु, जैसे-जैसे हम उन वस्तुओंकी क्षणभङ्गुरता, मिथ्या सुखदातृत्व एवं विनाशित्वादिसे परिचित होते जाते हैं, वैसे-वैसे उन वस्तुओंके प्रति उदासीन अर्थात् वीतराग होते जाते हैं। पूर्ण उदासीनता ही वैराग्यका स्वरूप है। भोग-जगत्में वैराग्य ही पूर्ण जागरण है। 'जागरण' यहाँ ज्ञानमें स्थित रहनेका वाचक है। वैराग्यसे विवेककी प्राप्ति होती है। 'मैं' यह शरीर नहीं हूँ; बल्कि 'आत्मा' किंवा 'ब्रह्म' हूँ—यही विवेक है। इस प्रकार शरीराभिमानसे रहित होनेपर शरीरसे सम्बन्धित सम्पूर्ण वस्तुओंकी इच्छाएँ अपने-आप शान्त हो जाती हैं। सांसारिक वस्तुओंकी इच्छाओंकी परिसमाप्ति होनेपर ही परम शान्ति उपलब्ध होती है। अन्यथा, उपर्युक्त विवेकके अभावमें अविवेकका उदय रहता है, जो सकल अनर्थोंका कारण है।

शरीराभिमानसे शून्य होनेपर और परमात्म-तत्त्वका बोध होनेपर जीवको कैवल्यकी प्राप्ति होती है। कैवल्यमें दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है। देहाभिमानजन्य 'स्व'का बोध और 'स्व'-अर्थमें वस्तुओंकी प्राप्तिकी इच्छाएँ ही दुःखका मूल हैं। इससे ऊपर उठनेपर परमार्थ-का बोध होता है। वहाँ 'स्वत्व'-'परत्व' सबका आत्यन्तिक अभाव हो जाता है। 'परत्व'का ज्ञान भी द्वैतजन्य है। द्वैतभाव सर्वथा भयराहित्यकी स्थितिको पैदा नहीं कर सकता है। अतः 'एकत्व'की भावना ही श्रेयस्कर है।[1]

---

* 'कल्याण' वर्ष ५, जुलाई १९३० के 'रामायणाङ्क' पृष्ठ १३८ से १४० तकसे उद्धृत।

१—'तत्र कः शोकः कः मोह एकत्वमनुपश्यतः।'

'एकत्व'की भावनाका तात्पर्य 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'की भावनासे है। इस स्थितिमें सुख-दुःख, मोह-शोकादि सब तिरोहित हो जाते हैं। अर्थात् परमार्थमें दृढ़ हो जानेपर परमशान्ति उपलब्ध होती है।

अतः सम्पूर्ण जागतिक पदार्थोंकी नश्वरता तथा क्षणभङ्गुरताका विचार कर, अपने आत्मस्वरूपके अनुसंधान एवं अनुचिन्तनमें तल्लीन होकर, परम पुरुषार्थकी प्राप्ति ही जीवका एकमात्र उद्देश्य होना चाहिये। परम पुरुषार्थकी प्राप्ति होनेपर संसृत्यादि चक्रोंका भय नहीं रहता है; आत्मा-परमात्माका मिलन हो जाता है।

उपदेश—दूसरोंके लिये

एक साधुने त्याग और वैराग्यपर एक बहुत ही सुन्दर पुस्तक लिखकर उसे प्रकाशित किया। पुस्तक ऐसी भावमयी थी कि पढ़नेवाले भावुकहृदय पुरुषपर उसका बड़ा असर होता और वह संसारकी असारता और क्षणभङ्गुरताके बहुत गहरे विचारमें पड़ जाता। ऐसे बहुत-से भावुक पुरुषोंने उस पुस्तकको पढ़ा था और फिर संसारकी असारता और क्षणभङ्गुरतासे उद्विग्न होकर संसारका परित्याग कर दिया था।

एक बार ऐसे ही किसी भावुक पुरुषके हाथमें यह पुस्तक आयी। पुस्तक पढ़नेपर उन्हें भी संसारसे वैराग्य हो गया और वे संसारका त्याग करनेको तैयार हो गये। परंतु उनके मनमें आया कि संसार-त्याग करनेसे पहले एक बार ऐसी पुस्तक लिखनेवाले महान् विभूतिके दर्शन कर लिये जायँ। ऐसा विचार आते ही वे ग्रन्थकर्त्ताके दर्शनार्थ उसके आश्रमकी ओर चल दिये।

ग्रन्थकर्त्ताके गाँवमें जाकर पूछ-ताछ करके आश्रमका पता लगाया और वे आश्रममें जा पहुँचे। उन्होंने मान रक्खा था कि ऐसे ग्रन्थकी रचना करनेवाला कोई पूर्ण त्यागी महापुरुष होगा। पर वहाँ जाकर देखा तो वह ग्रन्थकर्ता उन्हें सांसारिक प्रपञ्चोंमें पूरी तरहसे रँगा हुआ पूरा संसारी दिखायी दिया। उन्होंने सोचा कि 'यों एक ही उड़ती नजरसे देखकर किसीके सम्बन्धमें अन्तिम निर्णय कर लेना उचित नहीं। सम्भव है ऐसे प्रपञ्चमें भी अनासक्त रहनेवाला यह कोई स्थितप्रज्ञ पुरुष हो।' अतएव वहाँ दो दिन रहनेका निश्चय करके वे उस साधुकी अनुमति लेकर दो दिनके लिये ठहर गये।

दो दिनोंमें उन्होंने देखा कि ग्रन्थकर्ता साधुमें त्याग-वैराग्यका तो कहीं नाम-निशान ही नहीं है; वरं वह साधारण संसारी मनुष्यकी अपेक्षा भी अधिक शोक, मोह और राग-द्वेषमें गलेतक डूबा हुआ है। उसकी ऐसी दिनचर्या देखकर उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ और उन्होंने साधुसे पूछा—'यहाँ आते समय मैं आपको पूर्ण त्यागी मानकर ही आया था, पर यहाँ जो कुछ देखा, उससे तो आप पूर्णरूपसे मायाजालमें फँसे हुए एक साधारण संसारी मनुष्य-जैसे दिखायी दे रहे हैं। त्याग और वैराग्यपर ऐसी पुस्तक लिखनेवालेमें त्याग-वैराग्यका कहीं एक छींटा भी नहीं दिखायी देता, यह क्या बात है?'

साधुने उत्तर दिया—'भाई! तलवार बनानेवाला तलवार खेलना नहीं जानता; तलवार बनानेवाला और तलवार खेलनेवाला—दोनों अलग-अलग होते हैं। विजय तलवार बनानेवालेको नहीं मिलती, तलवार खेलनेवालेको मिलती है। इसी प्रकार इस ग्रन्थके विचारोंका रचयिता मैं हूँ और इन्हें आचरणमें लानेवाले दूसरे ही हैं। मैंने यदि इन विचारोंको आचरणमें उतारा होता, तो मैं इन्हें पुस्तकरूपमें प्रकाशित करके पैसे कमानेके धंधेमें न पड़ा होता। यह तो मेरी आजीविका और आश्रमका खर्च चलानेका एक साधन-मात्र है।'

साधुका उत्तर सुनकर वे सज्जन अवाक् रह गये।

इसी प्रकार पुस्तकें लिखकर, पत्र निकालकर, प्रवचन करके तथा आश्रमोंकी स्थापना करके लोकोद्धारका उपदेश देनेवाले बहुत हो गये हैं। पर उनमेंसे अधिकांश तलवार बनानेवाले हैं, तलवार खेलना जाननेवाले नहीं। तलवारके खेलनेवाले तो विरले ही होते हैं।

('दर्शन'से साभार)

परमार्थकी पगडंडियाँ

जहाँ मोह होता है, वहाँ सहज ही ऐसी कामना होती है--'हमारा यह शरीर स्वस्थ रहे और सदा बना रहे।' पर यह वस्तुतः अज्ञान ही होता है। बलिके बकरेकी माँ कितने दिन खैर मनायेगी ? उसकी तो बलि लगेगी ही। इसी प्रकार क्षणभङ्गुर पाञ्चभौतिक शरीर, जो बना है, वह कभी नष्ट होगा ही--दो दिन आगे या पीछे। अतएव इसकी कोई भी चिन्ता नहीं करनी चाहिये कि यह रहे या चला जाय। न तो यह सोचे-विचारे कि जल्दी चला जाय तो अच्छा, न उसके अधिक दिन रहनेकी ही कामना करे, न उसके भविष्य जाननेकी इच्छा करे। जानेवाली चीज जायगी ही; चिन्ता क्या ? निरन्तर प्रभुका चिन्तन करता रहे और सदा तैयार रहे। चिन्ता यही करे कि प्रभुका चिन्तन निरन्तर होता है या नहीं। ऋषि-मुनि-महात्मा-- जिनका एक-एक शब्द मनुष्यके उद्धारके लिये पर्याप्त है--वे भी उस शरीरसे नहीं रहे। शरीर तो नष्ट होगा ही। अतः शरीरसे कभी मोह न करे।

× × × ×

संसारमें या तो केवल भगवान् भरे हैं--कहीं दुःख है ही नहीं। सर्वत्र अनन्त अपार सुख छाया है। मृत्यु भी भीषण नहीं है, सुखरूपा है; क्योंकि मृत्युके रूपमें भी सुखमय भगवान् ही आते हैं। अथवा संसार सर्वथा दुःखालय है; वहाँ जब सुख है ही नहीं, तब वह सुख देनेवाला कोई कैसे होगा ? वैसी स्थितिमें संसारके प्राणी-पदार्थसे सुखकी सम्भावना ही नहीं होनी चाहिये। भगवान्के सिवा कहीं सुख है ही नहीं। पर जिसके मनमें भगवत्प्रेमकी लालसा है, वह तो अपने किसी सुखकी सोचे ही क्यों ? उसका सुख तो अपने प्रियतम भगवान्की रुचिमें है। जिस तरह रखने-करनेकी उनकी इच्छा या रुचि हो, वस्तुतः वही उसके लिये परम सुख है। वे चाहे हमारे मनकी न सुनें, हम निरन्तर उनके मनकी होनेमें असीम आनन्दका अनुभव करते रहें। हम अपने मनकी उन्हें सुनायें ही क्यों ? बल्कि हमारे मनमें ऐसी कोई बात रहे ही क्यों, जो उनके मनमें नहीं है और जिसे सुनानेकी कल्पना हममें जाग्रत् हो। बस, केवल उनके मनकी ही निरन्तर होती रहे। सोचने-विचारने, समझने-करनेका सारा काम वे ही करें। हम तो केवल उनके अनुकूल जीवन रखते हुए उनका मधुर-मधुर स्मरण करते रहें।

× × × ×

प्रेमीकी सुख-सुविधा स्वतन्त्र रहती ही नहीं। ऊपरसे चाहे ऐसा दीखता हो कि वह भगवान्की सुख-सुविधाका विचार न करके निज सुख-सुविधाकी ही भगवान्से व्यवस्था कराता है, पर ऐसा होता नहीं; क्योंकि उसकी निज सुख-सुविधा सब स्वाभाविक ही भगवान्की सुख-सुविधामें समायी रहती है; भगवान्की सुख-सुविधा ही उसकी सुख-सुविधाके रूपमें प्रकट होती है। यही प्रेमका स्वरूप है। अवश्य ही यह स्थिति सहज नहीं है। वास्तविक स्थिति हुए बिना कई बार इस मान्यतामें भूल भी हो सकती है। रहता है अपनी स्वतन्त्र सुख-सुविधाका अस्तित्व और मान लिया जाता है उसे प्रियतम भगवान्की सुख-सुविधा। यद्यपि प्रियतम भगवान् प्रेमीकी कल्याणकारिणी सुख-सुविधाका ही ध्यान रखते हैं; क्योंकि वे भी प्रेमीको सुखी देखना चाहते हैं, पर वे देखते हैं अपनी निर्मल यथार्थ दृष्टिसे। बहुत बार अज्ञानवश दुःख-दुविधा देनेवाली चीजोंको--परिस्थितियोंको हम सुख-सुविधाजनक मान लेते हैं, पर भगवान्की दृष्टिमें उनका असली रूप छिपा नहीं रहता; क्योंकि उनकी दृष्टिपर मोहका पर्दा नहीं रहता। इसलिये हमारी मानी हुई सुख-सुविधा वे नहीं होने देते या नहीं रहने देते। तब हमें जो दुःख

है, उसीसे यह सिद्ध हो जाता है कि हमारे मनकी अपनी सुख-सुविधा स्वतन्त्र थी, वह भगवान्‌की सुख-सुविधामें समा नहीं गयी थी। इसलिये प्रेम-साधनामें बड़ी सावधानीकी आवश्यकता है।

× × × ×

'भगवान् सदा मुझे प्रोत्साहन देते रहें, कभी मेरे मनमें अपने साधनका भरोसा न रहे, सदा प्रभुकी अहैतुकी कृपाका भरोसा मनमें बना रहे, कभी मनमें निराशा उत्पन्न न हो,—ये बहुत ही अच्छे भाव हैं। भगवान्‌की अहैतुकी कृपापर विश्वास-भरोसा होनेपर निराशाको तो स्थान ही नहीं रहता। अवश्य ही संसारसे निराशा हो जाती है, जो आवश्यक है। साधनका भरोसा न रहकर कृपाका भरोसा रहे, यह सर्वथा उचित है। पर इतना ध्यान अवश्य रहे कि जीवनमें आलस्य-प्रमाद न आ जाय। भगवान्‌के अनुकूल भगवान्‌की अनवरत सेवामें हमारा जीवन अवश्य लगा रहे।

× × × ×

भगवत्प्रेम बड़ी ही पवित्र चीज है और वह सचमुच हृदयका परमपावन गुप्त धन है। जो केवल बाहर है, वह प्रेम नहीं है। यद्यपि प्रेमका प्रकाश बाहर भी होता है, पर वह हृदयके अनन्त अपार प्रेम-समुद्रकी एक तरङ्ग-जैसा ही होता है। यथार्थमें तो वह भीतर ही रहता है। इसीसे वह परम पवित्र होता है। भगवान्‌के चरणकमलोंको हृदयमें बाँधकर रखनेके लिये तो, बस, एक ही डोरी है। वह है—'सब ओरसे हटाकर पूरी ममतासे अपने मनको उनके चरणोंमें बाँध देना—विशुद्ध तथा अनन्य प्रेमसे उनके श्रीचरणोंको अपने हृदयमें प्रतिष्ठित कर लेना' ऐसा करनेपर हृदय सदा उनके पवित्र चरण-कमलोंकी मधुर स्मृतिसे भरा रहेगा, निरन्तर उनके श्रीचरणोंकी सुखद झाँकी हृदयमें होती रहेगी। जितना ही प्रेम बढ़ेगा, उतनी ही स्थायी स्मृति होगी तथा उतनी ही मधुर पवित्र रसानुभूति होगी। फिर क्षणभरके लिये वे इधर-उधर नहीं जायँगे—'छिन न इत उत जात'।

× × × ×

'प्रभु' तथा 'प्रभुकी स्मृति'—ये दोनों ही वास्तवमें हमारे अधिकारकी वस्तु हैं, हमारी अपनी चीज हैं। इनको हम अपनी माननेमें हिचकते हैं, इसीसे ये हमसे कभी-कभी अलग—दूर प्रतीत होती हैं। हमारा इनपर अधिकार है, यह निश्चय कर लें। फिर वह चीज तो हमारी है ही और हमारे पास रहेगी ही। फिर भी कमी रहे तो प्रभुसे प्रार्थना करनी चाहिये—'हे भगवन्! मैं बार-बार भूल जाता हूँ; पर आप यह तो जानते ही हैं कि मैं केवल आपकी मधुर स्मृतिमें ही डूबा रहना चाहता हूँ। जब कभी आपकी स्मृति होती है, तब मैं संसारको भूल जाता हूँ और मुझे अपार आनन्द मिलता है। मेरी इस जगत्-विस्मृतिको तथा आपके स्मृतिजनित अपार आनन्दको भगवन्! स्थायी कर दीजिये। इस भावकी अपने मनके शब्दोंमें चुपचाप प्रार्थना करनी चाहिये। भगवान्‌से की गयी 'प्रार्थना' कभी निष्फल नहीं होती।

× × × ×

सर्वसमर्थ, सर्वशक्तिमान्, सर्वसुहृद् तो एकमात्र प्रभु ही हैं। जो मनुष्य प्रभुके पवित्र स्थानपर अपनेको बैठाना चाहता है या भगवत्पूजाके स्थानमें अपने हाड़-मांसके गंदे शरीर और अपने कल्पित नामकी पूजा करवाता है तथा अपनेको शक्तिमान् स्वीकार करता है, वह वास्तवमें पाखण्ड या दम्भ ही करता है।

'मूर्तिमें भगवान्‌की पूजा करनेवाला मूर्तिको भगवान् माने, पतिव्रता स्त्री पतिको परमेश्वर माने, शिष्य गुरुको परमात्मा माने'—ये सब माननेवालोंके कल्याणके लिये हैं। वस्तुतः न तो पत्थरकी मूर्ति

भगवान् हैं, न हाड़-मांसका पतिका शरीर या गुरुका शरीर ही परमेश्वर या परमात्मा हैं। हाँ! भगवान् सबके अभिन्न-निमित्तोपादानकारण होनेसे भगवान्के सिवा जगत्में कुछ भी नहीं है—इस दृष्टिसे तो सभी भगवान् हैं।

× × × ×

मनुष्यका जीवन कितना क्षणभङ्गुर है। शरीर शान्त होते ही यहाँके, शरीरके सारे सम्बन्ध, सारी आत्मीयता, सारी ममता ध्वंस हो जाती है; कुछ भी अपना नहीं रहता। पर यदि मनमें ममता रही तो बन्धन रहेगा। अतएव मरनेसे पहले ही—जब बात समझमें आवे, तबसे ही—मनसे जगत्से सम्बन्ध तोड़कर भगवान्से जोड़ लेना चाहिये।

मरना सभीको होगा। जो भगवान्का होकर मरता है, उसका मरना मृत्युको मारकर भगवान्के चरणप्रान्तमें पहुँचानेवाला होता है।

जबतक हम भगवान्के नहीं बन जाते, तबतक ही राग-द्वेषादि चोर हमारे पीछे लगे रहते हैं, घरका जेलखाना बना रहता है और मोहकी बेड़ियोंसे हम बँधे रहते हैं। भगवान्के बन जानेपर राग-द्वेषादिरूपी चोर मर जाते हैं, घर भगवान्का मन्दिर बन जाता है और मोहकी बेड़ियाँ टूट जाती हैं—

तावद्रागादयस्स्तेनास्तावत् कारागृहं गृहम्।
तावन्मोहोऽङ्घ्रिनिगडो यावत् कृष्ण न ते जनाः॥

बस, भगवान्में मन लगाकर नित्य-निरन्तर भगवद्भजनानन्द-सुधामें सराबोर रहना चाहिये। विषाद, भय, शोक, निराशा आदिको जरा भी स्थान नहीं देना चाहिये।

हो गये जब रामके तब शोक-भय कुछ भी नहीं।
सब तरफ धारा प्रबल आनन्दकी है बह रही॥

× × × ×

प्रेम सदा अधूरा ही रहता है—उसमें कभी पूर्णता नहीं आती—यही प्रेमकी महत्ता है। इससे प्रेममें कमी प्रतीत होना ही प्रेमकी स्थितिका ही द्योतक है। प्रेमकी तड़पन प्रेम बढ़ाती है और वह प्रेम प्रभुको आकर्षित करता है। भगवान् आप्तकाम, पूर्णकाम हैं, परंतु प्रेमकी प्यास उनको भी प्रबल होती है। वे प्रेमीका पवित्र विशुद्ध प्रेममय उपहार स्वीकार ही नहीं करते, उसके लिये लालायित रहते हैं। प्रेमीके पवित्र आँसू प्रेमास्पद प्रभुमें प्रेम-विह्वलता पैदा कर देते हैं; वे उन्हें आतुर कर देते हैं और उस प्रेमीके पास खिंचकर चले आते हैं वे। प्रेमीके उन आँसुओंसे भगवान् प्रसन्न होते हैं; क्योंकि वे आँसू—भगवान्के विरहके पवित्र प्रेममय आँसू—प्रेमी भक्तके हृदयमें जलनके रूपमें प्रकट होकर, सुखमय सलिल बनकर नेत्रोंसे प्रवाहित होते रहते हैं। इससे भगवान् उन आँसुओंको मिटाना नहीं चाहते, बहाना ही चाहते हैं। बहते रहें वे आँसू—प्रेमी भक्तको विरह-ज्वाला-संतापका परमसुख देते रहें वे आँसू। इस प्रकार तड़पना प्रेम-वृद्धि तथा पवित्र प्रेमका रसास्वादन करानेवाला होता है। यह पवित्र प्रेम केवलमात्र प्रेममय, रसमय भगवान्में ही होता है, भगवान्से ही होता है और होता है केवल प्रेमी भक्तके हृदयमें ही। इसमें जगत्-सम्बन्ध रहता ही नहीं, जगत्-सम्बन्ध सर्वथा विच्छिन्न होकर केवल प्रेममय भगवान्से ही सम्बन्ध रहता है। उनमें अनन्य ममता हो जाती है और वह होती है केवल प्रेमकी प्रेरणासे ही एवं देनेके लिये ही, लेनेके लिये नहीं। इसीसे भगवान् उसके दानको ग्रहण करनेके लिये सदा भिखारी बने रहते हैं।

× × × ×

सदा-सर्वदा आनन्दमग्न रहना चाहिये। यह द्वन्द्वरहित केवल आनन्द रोनेमें मिलता हो तो

रोनेमें आपत्ति नहीं है। वह रोना भी हँसना ही है। भगवान्‌के विश्वासमें तथा उनके प्रेमराज्यमें नित्य उत्सव, नित्य सुख, नित्य शोभा, नित्य मङ्गल एवं नित्य माधुर्य रहता है। वहाँ विषाद, शोक, अशोभा, अमङ्गल, अमाधुर्यको स्थान नहीं है।

× × × ×

पापोंकी कालिमासे कलङ्कित, अपराधोंके भण्डार, दीन, हीन, अनाथ अनाश्रयके ही तो भगवान् आश्रय हैं। उनकी कृपाके लिये इन्हीं योग्यताओंकी आवश्यकता है। यही उनका विरद है—

ऐसी कौन प्रभुकी रीति।
बिरद हेतु पुनीत परिहरि, पावँरनि पर प्रीति॥

भगवान्‌का विरद ही पामरोंपर प्रीति करना है। हमारी पामरता ही हमारी योग्यता है। शिशुका दुःख ही माताके आकर्षणकी वस्तु है।

× × × ×

साधककी 'अकर्मण्यता' भगवान्‌को रिझानेके लिये पर्याप्त है। संसारमें जिनको बड़ी कर्मण्यताका अभिमान है, वे कोरे रह जाते हैं और भगवद्विश्वासी अकर्मण्य समझे जानेवाले लोग भगवान्‌की अहैतुकी कृपाके पात्र होते हैं। भगवान् ऐसे ही दयालु हैं। इसका यह अर्थ नहीं कि वे आलसी होते हैं, वे नित्य सजग, सेवा-परायण होते हैं।

× × × ×

तुम सदा-सर्वदा भगवान्‌की कृपाका अनुभव करो। तुम्हारे मनमें विषादका जरा भी अंश न रह जाय। विश्वास करो—तुमपर भगवान्‌की बड़ी कृपा है। माना कि तुम अयोग्य हो, पर क्या भगवान्‌की कृपामें अयोग्यको योग्य बनानेकी शक्ति नहीं है? तुम अपनेको असहाय—भाग्यहीन क्यों मानते हो? जिसपर भगवान्‌की कृपा है, वह कैसे तो असहाय और कैसे भाग्यहीन है? भाग्यहीन तो वह है, जिसका चित्त भगवान्‌को छोड़कर संसारके भोगोंमें अनुराग रखता है—

सुनहु उमा ते लोग अभागी। हरि तजि होहिं बिषय अनुरागी॥

अपनेको असहाय, भाग्यहीन माननेसे भगवान्‌की कृपाका तिरस्कार होता है।

खूब प्रसन्न रहो और क्षणभरके लिये भी भगवान्‌को न भूलो। भगवान्‌की विस्मृति ही परम विपत्ति, परम दुर्भाग्य, महान् मूर्खता, भयानक पाप और महान् दुःख है। भगवान्‌की अखण्ड-स्मृति ही परम सम्पत्ति, परम सौभाग्य, महान् बुद्धिमत्ता, परम पुण्य और परम सुख है। बस, उस मधुर स्मृतिमें ही जीवनको लगा दो। सब समय, सर्वत्र उनका परम पवित्र मधुर स्मरण होता रहे, सारे पाप-ताप उस पवित्र सुधा-धारामें निश्चय ही बह जायँगे।

× × × ×

दुःख तब होता है, जब मनुष्य कुछ चाहता है। सुखके लिये कुछ करना ही नहीं पड़ता—चाह छोड़ दे और सुखी हो जाय। जबतक चाह है, तबतक वह दुखी होता रहेगा। अनन्त, असीम, कृपामय, प्रेममय, परम आत्मीय, परम सुहृद्, अहैतुक प्रेमी भगवान्‌पर विश्वास करके सारी चाह छोड़ दो, उनपर निर्भर हो जाओ, फिर कभी दुःख, अशान्ति, मनमें घबराहट, बेचैनी, निराशा होगी ही नहीं। जगत्‌की आशा ही निराशा लाती है। भोगोंकी आशा-कल्पनाको छोड़कर एकमात्र प्रभुपर निर्भर हो जाओ, नित्य-निरन्तर उनकी सुधामयी स्मृतिमें डूबे रहो। फिर तुम्हारे लिये 'दुःख' शब्द कोषसे निकल जायगा। जबतक उनपर विश्वास नहीं, उनके अहैतुक सहज सौहार्दका ज्ञान नहीं, तभीतक अशान्ति है, तभीतक दुःख है।

भोग-जगत्‌से राग हट जाय तो भगवान्‌की कृपापर निर्भर होकर मनुष्य निश्चिन्त हो जाय। कुछ भी हो, कैसे भी हो, जरा भी चिन्ता न करे। एकमात्र भगवान्‌की ही सुखद स्मृति होती रहे। बस, यही एकमात्र साध्य होना चाहिये और सारे प्रयत्न इसीके लिये होने चाहिये।

× × × ×

प्रभुके मनकी बात हो, वही अपने लिये परम सुखका कारण बन जाय— तभी समर्पण सिद्ध होता है। फिर किसी भी हालतमें दुःख रहता ही नहीं। वह निश्चिन्त रहता है—प्रभुकी मर्जीपर, वह प्रभुकी ओर देखता रहता है, कभी न घबराता है, न उकताता है; उसके लिये निराशाका तो कोई प्रश्न ही नहीं रह जाता।

मेरा दृढ़ विश्वास है कि भगवान्‌पर विश्वास करनेवालोंके लिये निराशाको कोई स्थान ही नहीं रहता। उसकी चित्तधारा निरन्तर प्रभुकी ओर बढ़ती रहेगी, कभी नहीं रुकेगी, यह निश्चित है, पर उसको भी जगत्‌से; जगत्‌के प्राणी-पदार्थोंसे तो आशा-ममता छोड़नी ही पड़ेगी। भगवान्‌ने इनसे निराश होनेकी आज्ञा दी है—'निराशीर्निर्ममो भूत्वा'। भोगोंसे निराश हुए बिना भगवान्‌की ओर बढ़नेकी आशा पूरी होती ही नहीं। हम भोगोंसे निराश होकर भगवान्‌की पूर्ण आशा करें—प्रभुकी नित्य अनन्त कृपा है ही—हम कभी निराश नहीं हो सकेंगे। इस बातका उत्तरदायित्व प्रभुने स्वयं लिया है—'योगक्षेमं वहाम्यहम्।'

× × × ×

भगवान्‌की सबपर अनन्त कृपा है, इसमें जरा भी संदेह नहीं। जो मनुष्य उस कृपामें जितनी ही कमी मानता है, वह उतना ही कृपाके लाभसे वञ्चित तथा घाटेमें रहता है। अतएव मनुष्यको किसी भी स्थितिमें भगवत्कृपाकी कमीकी तो कल्पना ही नहीं करनी चाहिये, नित्य-निरन्तर अपनेको उस महान् कृपासुधा-सिन्धुमें डूबा ही देखना चाहिये। इसीमें लाभ है और वास्तवमें है भी यही बात। जगत्‌की बाहरी अनुकूलता-प्रतिकूलतासे कृपाका माप-तौल नहीं किया जा सकता। वह कृपा तो हर हालतमें अपने अनन्तरूपमें हमपर रहती है।

विश्वास करो कि प्रभुकी जितनी कृपा एक संतपर है, उतनी ही कृपा हमपर भी है। हम यदि प्रभुके लिये रोते हैं, तो वह हमारा सौभाग्य है। हमें रुलानेमें नहीं, हमारा यह सौभाग्य देखनेमें प्रभुको अवश्य आनन्द आता है। वे हमारे प्रेमास्पद सदा हमें प्रेममें सराबोर—रोते हुए देखना चाहते हैं। प्रभुके लिये रोना ही तो करोड़ों हँसनेसे बढ़कर सुखदायी है।

मनमें सदा बहुत-बहुत प्रसन्न रहो। भगवान्‌की कृपापर कभी भी मनमें जरा भी संदेह न आने दो। प्रत्येक परिस्थितिमें उनकी कृपाका अनुभव करो। फिर चाहे रोओ या हँसो—दोनों ही उनकी कृपा-लीलाके दो मनोहर सौभाग्य-चिह्न हैं।

× × × ×

कृपासिन्धु दीनवत्सल भगवान् हमारे पिछले दुर्गुण-दुराचारोंकी ओर देखते नहीं, वर्तमानके दोषोंको भी अपनी कृपासे तुरंत मिटा देते हैं। वे तो केवल इतना ही देखते हैं 'कि वर्तमानमें इसने अनन्य मनसे मेरा आश्रय ग्रहण कर लिया है या नहीं, मेरी अहैतुकी कृपापर विश्वास करके मुझको ही परम आश्रयदाता मान लिया है या नहीं।' भगवान् अन्तर्यामी हैं। वे हमारे मनकी गहरी-से-गहरी छिपी हुई बातको भी जान लेते हैं और जिस क्षण उन्हें हमारा अन्तस्तल उनके अनन्य आश्रयको ढूँढ़ता मिलता है, उसी क्षण वे हमें बिना किसी शर्तके अपनाकर कृतार्थ कर देते हैं।
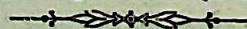
श्रीकृष्ण-संवत्‌की गणना किस प्रकार होनी चाहिये ?

'कल्याण'के मत और श्रावण (जुलाई) के अङ्कमें 'कल्याण'के पाठक-पाठिकाओंसे तथा उनके माध्यमसे समस्त देशवासियोंसे यह अनुरोध किया गया था कि वे अपने दैनिक व्यवहारमें ईसवी सन् एवं अंग्रेजी मास-नामोंका प्रयोग न करके श्रीकृष्ण-संवत् एवं भारतीय मास-नामोंका प्रयोग चालू कर दें। तदनुसार सौर भाद्रपद (अगस्त) के अङ्कके मुखपृष्ठपर दोनों ओर श्रीकृष्ण-संवत् ५०७० अङ्कित किया गया था। इसपर कई मित्रोंने आपत्ति की और कृपापूर्वक हमें सप्रमाण बताया कि श्रीकृष्ण-संवत् ५०७० न छापकर हम लोगोंको ५०७१ छापना चाहिये। उनमेंसे एक सज्जनने अपने पक्षके समर्थनमें ज्योतिषके किसी ग्रन्थका एक श्लोक भी उद्धृत किया है, जो इस प्रकार है—

'शाके नवाद्रीन्दुकृशानुयुक्तः
कलेर्भवेदब्दगणो व्यतीतः।'

जिसका अर्थ होता है कि शक-संवत्‌की संख्यामें ३१७९ जोड़नेसे जो संख्या उपलब्ध होती है, उतने ही वर्ष कलियुगके बीते हैं—ऐसा मानना चाहिये; क्योंकि कलियुगके ३१७९ वर्ष बीतनेपर ही शक-संवत्‌का प्रारम्भ हुआ था। शक-संवत् इस समय १८९२ चल रहा है। उसमें ३१७९ की संख्या जोड़नेसे कलियुगके ५०७१ वर्ष व्यतीत हुए माने जाने चाहिये। उनका कहना है कि इसी आधारपर ज्योतिषी लोग अहर्गण निकालकर ग्रहोंका स्पष्टीकरण आदि करते हैं और यही सिद्धान्त सर्वमान्य है। और चूँकि श्रीमद्भागवत आदि ग्रन्थोंके अनुसार कलियुगका प्रवेश पृथ्वीपर उसी दिन हुआ, जिस दिन भगवान् श्रीकृष्णने इस धराधामका परित्याग कर परमधामके लिये प्रयाण किया था, अतः श्रीकृष्ण-संवत्‌का प्रारम्भ उसी समयसे माना जाना चाहिये।

एक दूसरे सज्जनका कहना है कि 'कलियुगके जब ५०७१ वर्ष बीत चुके हैं, तब इस समय श्रीकृष्ण-संवत् ५०७२ होना चाहिये', जो हमारी समझसे ठीक नहीं है। कारण, वर्तमानमें जितने वर्ष किसी संवत्सरके बीत चुके हैं, वही संख्या वर्तमान संवत्सरकी सभी पञ्चाङ्गोंमें मानी है, एक वर्ष अधिक नहीं।

तीसरे सज्जन 'कल्याण'के हिंदू-संस्कृति अङ्कके (जो ईसवी सन् १९५० में, अर्थात् आजसे बीस वर्ष पूर्व छपा था) पृ० ७७५ पर प्रकाशित तथा ज्योतिर्विद् पं० श्रीदेवकीनन्दनजी खेडवालद्वारा लिखे गये 'हिंदू-संवत्, वर्ष, मास और वार' शीर्षक विद्वत्तापूर्ण लेखकी ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है, जिसमें उन्होंने श्रीकृष्ण-संवत्‌की संख्या उस समय ५१७५ बतायी थी, जो बीस वर्ष बाद इस समय ५१९५ होनी चाहिये। उक्त विद्वान् लेखकने हमारी समझसे यह संख्या भगवान् श्रीकृष्णके आविर्भावसे मानी होगी; क्योंकि पुराणोंके अनुसार श्रीकृष्ण इस धराधामपर १२५ वर्ष विराजे थे। हमारे इस अनुमानसे इस वैषम्यका समाधान भलीभाँति हो जाता है, जो उक्त दोनों संख्याओंमें पाया जाता है, यद्यपि श्रीकृष्ण-संवत्‌का प्रारम्भ श्रीकृष्णके परमधामगमनसे माननेपर श्रीखेडवाल-जीके हिसाबसे इस समय श्रीकृष्ण-संवत् ५०७० ही होना चाहिये, न कि ५०७१। अवश्य ही श्रीखेडवाल-जीके लेखसे यह प्रश्न भी सामने आता है कि श्रीकृष्ण-संवत् श्रीकृष्णके आविर्भावसे मानना चाहिये या उनके परधामगमनसे।

अतः श्रीकृष्ण-संवत्‌का प्रयोग चालू करनेसे पूर्व गण्य-मान्य विद्वानोंके द्वारा एक मतसे यह निश्चय हो जाना आवश्यक है कि श्रीकृष्ण-संवत्‌की संख्या क्या होनी चाहिये? हम ज्योतिर्विद् विद्वान् महानुभावोंसे प्रार्थना करते हैं कि वे इस दिशामें कृपापूर्वक शीघ्र अपनी-अपनी बहुमूल्य सम्मति भेजकर हमारा पथ-प्रदर्शन करें। साथ ही, संवत् प्रारम्भ किस माससे होना चाहिये, इसपर भी कृपया सम्मति भेजें।

प्रार्थी—चिम्मनलाल गोस्वामी, सम्पादक

पिछले श्रीभगवन्नाम-जपकी आनन्दपूर्ण शुभ सूचना

(१९६९-७०)

बड़े आनन्दकी बात है कि 'कल्याण'के भगवन्नामप्रेमी सम्मान्य पाठक-पाठिकाओंने 'कल्याण'की गतवर्षकी प्रार्थना-के अनुसार स्वयं जप करके तथा अन्यान्य महाभाग्यवान् महानुभावों तथा महाभागा देवियोंको प्रेरित करके उनके द्वारा जप कराके बहुत बड़ी संख्यामें जप होनेकी सूचना दी है। इस महान् पुण्यकार्यके लिये वे सब भगवत्कृपाप्राप्त तो हैं ही; हमलोग भी उनके बड़े कृतज्ञ हैं और इस कृपाके लिये उनको श्रद्धावनत हृदयसे बार-बार नमस्कार करते हैं—

१—मन्त्र-संख्या—४८, ७२, ४४, ७०० (अड़तालीस करोड़, बहत्तर लाख, चौवालीस हजार, सात सौ)

नाम-संख्या— ७, ७९, ५९, १५, २०० (सात अरब, उन्यासी करोड़, उनसठ लाख, पंद्रह हजार, दो सौ)

(क) बहुतसे लोगोंने जप करनेकी सूचना दी है, संख्या नहीं लिखी।

(ख) षोडश मन्त्रके अतिरिक्त अन्य मन्त्रोंका भी लोगोंने जप किया है।

(ग) कई लोगोंने अब इस क्रमको जीवनभर निभानेका निश्चय किया है।

(घ) विदेशसे भी कुछ सूचनाएँ आयी हैं। भारतका शायद ही कोई प्रदेश बचा हो, जहाँ जप नहीं हुआ हो।

(च) बालक, युवा, वृद्ध, स्त्री, पुरुष, गरीब-अमीर, अपढ़ एवं विद्वान् सभी तरहके लोगोंने जपमें भाग लिया है।

(छ) अधिकांश जप व्यक्तिगतरूपमें हुआ है, कुछ सामूहिकरूपसे भी।

जिन स्थानोंपर जप हुआ है, उनकी नामावली अगले अङ्कमें प्रकाशित हो सकती है।

निवेदक—'नाम-जप-विभाग,' 'कल्याण' सम्पादक-विभाग, पो० गीतावाटिका, गोरखपुर

श्रीभगवन्नाम-जपके लिये विनीत प्रार्थना

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

निखिलश्रुतिमौलिरत्नमालाद्युतिनीराजितपादपङ्कजान्त । अयि मुक्तकुलैरुपास्यमानं परितस्त्वां हरिनाम संश्रयामि ॥

(श्रीरूपगोस्वामी)

'हे हरिनाम! अखिल श्रुतियोंके शिरोभाग उपनिषद्-रत्नमाला अपने स्वप्रकाश ज्योतिपुञ्जके द्वारा आपके श्रीचरणकमलोंकी नख-सीमाकी आरति कर रहे हैं; आप मुक्तिकुलके महात्माओंके द्वारा निरन्तर उपासित हो रहे हैं। मैं आपका सर्वतोभावसे अर्थात् भजनाङ्गके अङ्गीरूपसे आश्रय ग्रहण करता हूँ।'

नाम्नामकारि बहुधा निजसर्वशक्तिस्तत्रार्पिता नियमितः स्मरणे न कालः।
एतादृशी तव कृपा भगवन् ममापि दुर्दैवमीदृशमिहाजनि नानुरागः ॥
नयनं गलदश्रुधारया वदनं गद्गदरुद्धया गिरा। पुलकैर्निचितं वपुः कदा तव नामग्रहणे भविष्यति ॥

(श्रीचैतन्य महाप्रभु)

'हे भगवन्! आपने लोगोंकी विभिन्न वाञ्छा देखकर नित्यसिद्ध अपने बहुतसे नाम कृपा करके बता दिये। उस नाममें अपनी सारी शक्ति भर दी और नाम-स्मरणमें देश-काल-पात्रका कोई नियम भी नहीं रक्खा। इतनी महान् कृपा होनेपर भी मेरा ऐसा दुर्दैव है कि आपके उस नाममें मेरा अनुराग नहीं हुआ। यह

दिन कब होगा, जब आपका नाम लेते-लेते मेरे नेत्रोंसे आँसुओंकी धारा बहने लगेगी, मुख गद्‌गदवाणीके द्वारा रुक जायगा और शरीर रोमाञ्चित हो जायगा।'

हरेर्नामैव नामैव नामैव मम जीवनम्। कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥ (बृहन्नारदीयपुराण)

'एकमात्र श्रीहरिका नाम ही, नाम ही, नाम ही मेरा जीवन है। कलियुगमें निश्चय ही और कोई गति नहीं है, नहीं है, नहीं है।'

आजके इस आधि-व्याधि, रोग-शोक, कलह-क्लेश, द्वेष-वैर, हिंसा-हत्या, चोरी-डकैती, अकाल, अवर्षा, अतिवर्षा, अनाचार, अत्याचार, भ्रष्टाचार, स्वेच्छाचार आदिसे पीड़ित तथा भगवद्‌विमुखतारूप दुर्भाग्यसे युक्त मानवको इन सभीसे सहज मुक्त कर सर्वाङ्गीण सुखी बनानेके लिये तथा मनुष्य-जीवनके लक्ष्य मोक्ष या भगवान्‌के प्रेमकी प्राप्ति करानेके लिये एकमात्र 'भगवन्नाम' ही सरल साधन है। इस समय चारों ओर अशान्तिके बादल छाये हैं, युद्धकी भीषणता सिरपर सवार है। इसीलिये 'कल्याण'के भगवद्विश्वासी पाठक-पाठिकाओंसे प्रतिवर्षकी भाँति प्रार्थना की जाती है कि वे कृपापूर्वक स्वयं प्रेमके साथ अधिक-से-अधिक नाम-जप करें तथा प्रेमपूर्वक प्रेरणा करके दूसरोंसे करायें। यही परम हित है। गत वर्षकी भाँति इस वर्ष भी—

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

इस उपर्युक्त १६ नामवाले परम पवित्र मन्त्रके २० (बीस) करोड़ जपके लिये ही प्रार्थना की जाती है। नियमादि इस प्रकार हैं—

१—यह श्रीभगवन्नाम-जप जपकर्ताके, धर्मके, विश्वके—सबके परम कल्याणकी भावनासे ही किया-कराया जाता है।

२—इस वर्ष इस जपका समय कार्तिक शुक्ला १५, शुक्रवार, सं० २०२७ (१३ नवम्बर १९७०) से आरम्भ होकर चैत्र शुक्ला १५, शनिवार, सं० २०२८ (१० अप्रैल १९७१) तक रहेगा। जप इस समयके बीच किसी भी तिथिसे करना आरम्भ किया जा सकता है, पर इस प्रार्थनाके अनुसार उसकी पूर्ति चैत्र शुक्ला १५, सं० २०२८ को समझनी चाहिये। पाँच महीनेका समय है। उसके आगे भी जप किया जाय, तब तो बहुत ही उत्तम है, करना चाहिये ही। देरसे जपकी सूचना मिले, तो जब मिले, तभीसे जप शुरू कर देना चाहिये।

३—सभी वर्णों, सभी जातियों और सभी आश्रमोंके नर-नारी, बालक-वृद्ध-युवा इस मन्त्रका जप कर सकते हैं।

४—एक व्यक्तिको प्रतिदिन 'हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥'—इस मन्त्रका कम-से-कम १०८ बार (एक माला) जप तो अवश्य करना चाहिये। अधिक कितना भी किया जा सकता है।

५—संख्याकी गिनती किसी भी प्रकारकी मालासे, अँगुलियोंपर अथवा किसी अन्य प्रकारसे रक्खी जा सकती है।

६—यह आवश्यक नहीं है कि अमुक समय आसनपर बैठकर ही जप किया जाय। प्रातःकाल उठनेके समयसे लेकर रातको सोनेतक चलते-फिरते, उठते-बैठते और काम करते हुए—सब समय इस मन्त्रका जप किया जा सकता है।

७—बीमारी या अन्य किसी कारणवश जप न हो सके और क्रम टूटने लगे तो किसी दूसरे सज्जनसे जप करवा लेना चाहिये। पर यदि ऐसा सम्भव न हो तो स्वस्थ होनेपर या उस कार्यकी समाप्तिपर प्रतिदिनके नियमसे अधिक जप करके उस कमीको पूरा कर लेना चाहिये।

८—यहाँ सौरी-सूतकके समय भी जप किया जा सकता है।

९—स्त्रियाँ रजोदर्शनके चार दिनोंमें भी जप कर सकती हैं, किंतु इन दिनोंमें उन्हें तुलसीकी माला हाथमें लेकर जप नहीं करना चाहिये। संख्याकी गिनती किसी काठकी मालापर या किसी और प्रकारसे रख लेनी चाहिये।

१०—इस जप-यज्ञमें भाग लेनेवाले भाई-बहिन ऊपर दिये हुए सोलह नामोंके मन्त्रके अतिरिक्त अपने किसी इष्ट-मन्त्र, गुरु-मन्त्र आदिका भी जप कर सकते हैं। पर उस जपकी सूचना हमें देनेकी आवश्यकता नहीं है। हमें सूचना केवल ऊपर दिये हुए सोलह नामोंके मन्त्र-जपकी ही दें। लिखित भगवन्नाम हमें नहीं भेजने चाहिये; कारण, हमारे यहाँ उनके पूजन आदिकी व्यवस्था नहीं है।

११—सूचना भेजनेवाले लोग जपकी संख्याकी सूचना भेजें, जप करनेवालोंके नाम आदि भेजनेकी भी आवश्यकता नहीं है। सूचना भेजनेवालोंको अपना नाम-पता स्पष्ट अक्षरोंमें अवश्य लिखना चाहिये।

१२—संख्या मन्त्रकी होनी चाहिये, नामकी नहीं। उदाहरणके रूपमें यदि कोई 'हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥' इस मन्त्रकी एक माला प्रतिदिन जपे तो उसके प्रतिदिनके मन्त्र-जपकी संख्या एक सौ आठ (१०८) होती है, जिसमेंसे भूल-चूकके लिये आठ मन्त्र बाद देनेपर १०० (एक सौ) मन्त्र रह जाते हैं। अतएव जिस दिनसे जो भाई-बहिन 'मन्त्र-जप आरम्भ करें, उस दिनसे चैत्र शुक्ला पूर्णिमातकके मन्त्रोंका हिसाब इसी क्रमसे जोड़कर सूचना भेजनी चाहिये।

१३—सूचना प्रथम तो मन्त्र-जप आरम्भ करनेपर भेजी जाय, जिसमें चैत्र-पूर्णिमातक जितना जप करनेका संकल्प किया गया हो, उसका उल्लेख रहे तथा दूसरी बार चैत्र-पूर्णिमाके बाद, जिसमें जप प्रारम्भ करनेकी तिथिसे लेकर चैत्र-पूर्णिमातक हुए कुल जपकी संख्या हो।

१४—जप करनेवाले सज्जनोंको सूचना भेजने-भिजवानेमें इस बातका संकोच नहीं करना चाहिये कि जपकी संख्या प्रकट करनेसे उसका प्रभाव कम हो जायगा। स्मरण रहे—ऐसे सामूहिक अनुष्ठान परस्पर उत्साह-वृद्धिमें सहायक बनते हैं।

१५—सूचना संस्कृत, हिंदी, राजस्थानी, मराठी, गुजराती, बंगला, अंग्रेजी अथवा उर्दूमें भेजी जा सकती है।

१६—सूचना भेजनेका पता—'नाम-जप विभाग,' 'कल्याण'-कार्यालय, पो० गीतावाटिका (गोरखपुर)

चिम्मनलाल गोस्वामी

सम्पादक—'कल्याण'

वर्णाश्रमकी ऐतिहासिकता

(लेखक—श्रीनीरजाकान्त चौधुरी [देवशर्मा], एम्० ए०, एल्-एल्० बी०, पी-एच्० डी०)

[अङ्क ९ पृष्ठ ११६८ से आगे]

शूद्र एवं अन्त्यजगण

(क) 'द्विज इव वृषलं पार्श्वे न सहते ।'

(पञ्च० २ । ६)

'ब्राह्मणजन शूद्रके समीपमें रहनेका अनुमोदन नहीं करते थे ।'

(ख) 'वार्णवस्तु प्रणामः स्यान्मन्त्रवर्जितदैवतः ।'

(भरत०—प्रतिमा ३ । ५)

'शूद्रोंके देवताओंको प्रणाम करते समय मन्त्रका व्यवहार नहीं होता ।'

(ग) 'सव्वं आनेत्तुवज्जिअ भोअणं ।' ('सर्वमानयतु वर्जयित्वा भोजनम् ।')

(विदूषक—चारु० ४)

'ब्राह्मण गणिकाके घरपर भोजन (अतिप्रिय होनेपर भी) नहीं करेंगे ।'

(घ) 'किंतु दैवतशङ्कया ब्राह्मणजनस्य प्रणामं परिहरामि क्षत्रिया इमे स्वर्गताः ।'

(भरतके प्रति देवकुलिक—प्रतिमा० ३।८)

'दशरथ और उनके पूर्वपुरुषोंकी मूर्ति छत्रीमें स्थापित—क्षत्रियकी मूर्तिको देवता मानकर ब्राह्मण प्रणाम न करें; यही कहते हैं ।'

(२) उपधर्मी जैन और बौद्धोंकी मान्यता नहीं थी

(क) 'कत्तव्वकरवीकिदसङ्केदो विअ सक्कअसमणओ ।' ('कर्तव्यकरवीकृतसङ्केत इव शाक्य श्रमणको ।')

(विदूषक—चारु० ३ । ९)

इस स्थानपर बौद्ध भिक्षुओंकी नैतिक दुर्बलताके प्रति व्यङ्ग किया गया है ।

भगवान् बुद्धदेवने स्त्रियोंके भिक्षुणी होनेके अधिकारका अनिच्छापूर्वक ही अनुमोदन किया था, किंतु अत्यल्पकालमें ही उसका विषम फल सामने आ गया था । केवल भासके नाटकों या कौटिलीय अर्थशास्त्र प्रभृति तत्कालीन साहित्यमें इसके प्रमाण पाये जाते हों, ऐसा ही नहीं है, समसामयिक बौद्धसङ्घके विधि-नियमोंकी कठोरता; और तो क्या सम्राट् प्रियदर्शीकी स्तम्भलिपिमें बौद्ध भिक्षु-भिक्षुणियोंके चरित्रके अधःपतनकी साक्षी उपस्थित है ।

(ख) 'अहं को समणओ' ('अहं कः श्रमणकः ।')

(विदूषक)

'तुवं किंच अवेदिओ' ('त्वं किंच अवैदिकः')

(चेटी—अवि० २ । ३५-३७)

(ग) 'किंतु खु जीवदि नग्गन्धसमणिआ' ('किं तु खलु जीवति नग्नान्धश्रमणिका') ?

(विदूषक—अवि० ४ । २१)

विदूषक भिक्षुणीके विषयमें व्यङ्ग करता है ।

(घ) 'जण्णोपवीदेण बम्हणो, चीवरेण रत्तपडो । जदि वत्थं अवणेमि, समणओ होमि ।' ('यज्ञोपवीतेन ब्राह्मणः, चीवरेण रक्तपटः । यदि वस्त्रमपनयामि, श्रमणको भवामि ।')

(विदूषक—अवि० ५ । ५)

विदूषक भिक्षुके रँगे हुए वस्त्रके विषयमें व्यङ्ग करता है—'उसे छोड़ देनेसे ही दिगम्बर जैन साधु भी हुआ जा सकता है ।'

भासके युगमें क्या बौद्ध, क्या जैन—किसी अवैदिक सम्प्रदायकी मान्यता परिलक्षित नहीं होती । अशोकके पूर्व शाक्यगण राजकृपासे वञ्चित थे; उनको समाज और राष्ट्रमें हेय समझा जाता था । उस समय विशाल वैदिक जनसमुद्रके बीच बौद्ध और जैन अपाङ्क्तेय (पाँतके बाहर) थे और संख्यामें मुट्ठीभर थे, चरित्रस्खलन एवं उपधर्ममतके पोषणके कारण उनमेंसे बहुत-से हीन दृष्टिसे देखे जाते थे ।

(३) मातृपितृभक्ति—

भासके नाटकोंमें अत्युच्च आदर्श स्थापित हुआ है—

(क) 'न मया गुरुवचनमतिक्रान्तपूर्वम् ।'

(भरत—प्रतिमा ३ । ४)

'भरत कहते हैं—मैंने पहले कभी गुरुजनोंके आदेशका अतिक्रमण नहीं किया ।'

(ख) 'अतः परं न मातुः परिवादं श्रोतुमिच्छामि ।'

(राम—प्रतिमा १)

राम सिंहगर्जन करते हुए तिरस्कारपूर्वक कहते हैं—'इसके बाद फिर मैं माता (कैकेयी) की निन्दा सुनना नहीं चाहता' ।

(ग) 'ऊरुभङ्ग' में दुर्योधनकी मातृपितृभक्ति अतुलनीय है—

अयं मे द्वितीयः प्रहारः ! कथं भोः !
हृतं मे भीमसेनेन गदापातकचग्रहे ।
सममूरुद्वयेनाद्य गुरोः पादाभिवन्दनम् ॥
(ऊरुभङ्ग १ । ४)

दुर्योधन खेदपूर्वक कहता है—भीमने केवल गदाके आघातसे उसका ऊरुभङ्ग ही नहीं किया, बल्कि माता-पिताको प्रणाम करनेकी क्षमताका भी हरण कर लिया ।

इसके बाद दुर्योधन गान्धारीसे कहता है—

नमस्कृत्य वदामि त्वां यदि पुण्यं मया कृतम् ।
अन्यस्यामपि जात्यां मे त्वमेव जननी भव ॥
(ऊरु० १)

'मा ! यदि मैंने पुण्य किया हो, तो जन्म-जन्ममें तुमको ही मेरी माँके रूपमें प्राप्त करूँ ।' इन दोनों श्लोकोंका भाव सचमुच ही अपूर्व है ।

(घ) पुनर्जन्म और जातिस्मरत्वका विश्वास निम्नाङ्कित वाक्यमें प्रस्फुटित है—

'जातिस्मरः प्रथमजातिमिव स्मरामि ।'
(अभि २ । १)

(७) पातिव्रत्य—

भासके नाटकोंमें नारी-चरित्रका उच्च आदर्श प्रतिष्ठित है । वे प्रत्यक्षतः सुसंवृता एवं अवगुण्ठनवती होकर बाहर निकलती थीं । पर-पुरुषके साथ आलाप तो दूरकी बात है, उनके विषयमें आलोचनातकका परिहार करती थीं ।

नीचे कुछ उदाहरण दिये जाते हैं—

(क) 'अपि दृष्टं द्विधाभूतमरुन्धतीचरित्रम् ।'
(भरत—प्रतिमा ३ । ८)

भरत सीताके पातिव्रत्यके विषयमें कहते हैं, 'मानो इन महासतीके चरित्रके रूपमें अरुन्धतीके चरित्रने दूसरा रूप ग्रहण कर लिया हो ।'

(ख) 'परपुरुषदर्शनं परिहरति आर्या ।'
(पद्मावती—स्वप्न० १ । १२)

पद्मावती कहती हैं—'आर्या (वासवदत्ता) परपुरुष-दर्शनका परिहार करती हैं ।'

(ग) 'पदिमत्तधम्मिणी पदिव्वदेति णाम ।'
('पतिमात्रधर्मिणी पतिव्रतेति नाम ।')
(मध्यम० १ । १५)

(घ) 'अयुक्तपरपुरुषसङ्कीर्तनं श्रोतुम् ।'
(वासवदत्ता—स्वप्न० ३)

वासवदत्ता (उदयनके विषयमें हो रही आलोचना सुननेकी एकान्त अभिलाषिणी होते हुए भी प्रकाश्यमें) कहती है—'परपुरुषविषयक बात सुनना उचित नहीं ।'

प्रोषितभर्तृका—

(क) स्वप्नस्यान्ते विबुद्धेन नेत्रविप्रोषिताञ्जनम् ।
चारित्र्यमपि रक्षन्त्या दृष्टं दीर्घालकं मुखम् ॥
(स्वप्न० ५ । १०)

(ख) 'प्रोषितभर्तृका परपुरुषदर्शनं परिहरति ।'
(पद्मा०—स्वप्न० ६ । ११)

अवगुण्ठन—

(क) 'संक्षिप्यतां यवनिका ।'
(उदयन—स्वप्न० १ । २८)

(वासवदत्ताका) 'घूँघट थोड़ा छोटा कर दो ।'

(ख) 'मैथिलि ! अपनीयतामवगुण्ठनम्'
(राम—प्रतिमा० १ । २८)

राम कहते हैं—'मैथिलि ! घूँघट हटा दो ।'

(ग) 'निर्दोषदृश्या हि भवन्ति नार्यो
यज्ञे विवाहे व्यसने वने च ।'
(राम—प्रतिमा० १ । २८)

अनेक लोग कहते हैं कि 'प्राचीन युगमें भारतमें स्त्रियोंमें पर्देकी प्रथा नहीं थी । मुस्लिम शासनके समय कुछ तो शासकोंके अत्याचार और कुछ उन लोगोंमें प्रचलित बुरकाके अनुकरणने उनको पर्देमें रहनेवाली बना दिया गया । वे पूर्वकालमें घरके बाहर पुरुषोंके साथ अबाधरूपसे मिलती-जुलती थीं । अतएव प्राचीन धाराके अनुसार ही स्त्रियोंको घूँघट अथवा शरीरको कपड़ेसे ढकना आदि नियम अब प्रचलित रखने उचित नहीं हैं ।'

किंतु भासके नाटकोंसे प्रमाणित होता है कि इन लोगोंका दृष्टिकोण अनैतिहासिक एवं भ्रान्त है । सदासे ही इस देशमें पतिव्रता स्त्रियाँ केवल अन्तःपुरमें—पर्देमें रहती थीं और वे परपुरुषकी दृष्टिसे अपनेको बचानेके लिये घूँघट या यवनिकाका व्यवहार करती थीं । असंवृतका या वेशभूषा आर्यनारियोंका कभी आदर्श नहीं था ।

'यवनिका' शब्दका व्यवहार प्राचीनकालसे ही होता आया है । इसका मूल 'यवन' अथवा 'ग्रीक' नहीं है । 'जवनिका' 'यमनिका' इसके दो रूप हैं । 'जव', 'जवन'—इन शब्दोंका वैदिक साहित्यमें भी व्यवहार हुआ है । (क्रमशः)

ईश्वरका स्पर्श

(लेखक—श्रीप्रफुल्लचन्द्रजी ओझा 'मुक्त')

आजका युग अविश्वासका युग है—अनास्थाका युग। आज सब कुछको अस्वीकार करनेवाले, सब कुछका निषेध करनेवाले चीख-चीखकर कहते हैं कि उनका बौद्धिक विकास सीमाका अतिक्रमण कर गया है और उनके-जैसे साहसी योद्धा अभीतक धरतीपर पैदा नहीं हुए थे। लेकिन यह चीखना वैसा ही है, जैसे आसन्न मृत्युसे भीत-कम्पित मनुष्य चीख उठे कि 'मैं मौतसे नहीं डरता।'

'ईश्वरो वा न वेत्ति—ईश्वर है या नहीं'—यह बड़ा पुराना सवाल है और इसके उत्तर भी बहुत पुराने पड़ गये हैं। मैं उन तर्कोंमें नहीं जाना चाहता। मैं इतना ही जानता हूँ कि आस्था वह जमीन है, जिसपर जिंदगी टिकती है। जिसने यह आस्था खो दी है, वह अधरमें लटकते उस व्यक्तिके समान है, जो पता नहीं कब, कहाँ जा गिरेगा।

जवानीकी शुरुआतमें, जब बोध कम, उच्छृङ्खलता अधिक हुआ करती है, मैं भी ईश्वरको नहीं मानता था। लेकिन सहसा एक दिन एक घटना हुई, जिसने मेरी अनास्थाकी जड़ काट दी। मेरा मनःकल्प हो गया। फिर मैं वही नहीं रह गया, जो उस समयतक था।

जिस छोटी-सी घटनाकी चर्चा मैं करने जा रहा हूँ, उसमें पहली बार मुझे ईश्वरकी अहैतुकी कृपाका अनुभव हुआ था। मुझे ईश्वरका स्पर्श मिला था, उनकी सहायता मिली थी, उनका संकेत मिला था।

घूमनेका शौक मुझे बचपनसे रहा है। उस समय उम्र बीसकी थी और मैं घूमता-फिरता जोधपुर पहुँच गया था। वहाँ मैं धर्मशालाके जिस कमरेमें ठहरा, उसमें दो खिड़कियाँ थीं और एक दरवाजा। दरवाजा गलियारेमें खुलता था। एक खिड़की आँगनकी ओर, दूसरी पिछवाड़े खुलती थी। पिछवाड़े मलबेका एक ऐसा ढूह था, जिसपर एक लोटा भी पानी गिरे तो कमरेमें आ जाय।

बरसातकी शाम थी। बड़ी सुहावनी, बड़ी खूबसूरत शाम। घूम-फिरकर और खा-पीकर जब मैं रातको अपने कमरेमें आया तो बूँदा-बाँदी होने लगी थी। स्वभावतः मैं लिखनेके मूडमें आ गया। मैंने चमड़े और लोहेके अपने दोनों बक्सोंके सामान इधर-उधर बिखरा दिये, बिस्तर बिछाया और जमकर लिखने बैठ गया। लिखते-लिखते ही जाने कब मुझे गहरी नींद आ गयी।

लेकिन एक समय अचानक मेरी नींद खुल गयी। मैं सिरसे पाँवतक भीगा हुआ था। मेरी चारपाई जैसे नदीमें तैर रही थी। बिजली तो मैं जलती ही छोड़कर सो गया था—उसके प्रकाशमें देखा, पिछवाड़ेकी खुली खिड़कीसे भयानक वेगसे, पानी कमरेमें चला आ रहा है। कमरा कमरभर पानीसे भरा हुआ है। मैं घबराकर दरवाजेकी ओर दौड़ा, उसे खोलनेकी कोशिश की। किसी तरह खोल नहीं सका। फिर आँगनवाली खिड़कीपर जोर-आजमाइश की—वह भी वज्र-कपाट बन गयी थी। प्राणभयसे पागलोंकी तरह कभी खिड़की और कभी दरवाजेको खोलनेके लिये मैं जूझता रहा, लेकिन दोनोंमेंसे एक भी टस-से-मस नहीं हुआ। इतनी देरमें पानी मेरी गर्दनतक आ गया था। हवा बंद हो गयी थी। अब बिजली भी बुझ गयी। कमरेमें भरे जलमें मैं तैरने लगा। अधिक देर तैर भी नहीं सका। पानीकी सतह और कमरेकी छतके बीच शायद डेढ़-दो फीटका फासला रह गया था। दीवारकी एक खूँटीका सहारा लेकर मैं सुस्तानेके लिये टिका। मुझे लगा, हम छूटनेके अगले ही क्षण मेरा माथा फट जायगा और—

लेकिन वह क्षण नहीं आया। उस क्षण, ठीक उसी क्षण, आयी ईश्वरकी सहायता। आँगनवाली जिस खिड़कीको खोलनेकी कोशिशमें मैं, एड़ी-चोटीका पसीना एक करके भी, उसे हिलातक नहीं पाया था, उसका एक पल्ला टूटकर अचानक आँगनमें जा गिरा। खुली खिड़कीकी राह कमरेका पानी बड़े वेगसे आँगनमें निकलने लगा। मेरा सारा सामान, सारे रुपये, स्वयं मैं, उसी वेगसे आँगनमें जा गिरा। मैं मरा नहीं, हल्का-सा घायल होकर रह गया।

जब सबेरा हुआ तो न मेरे पास सामान-बिस्तर था, न रुपया-पैसा, मगर बार-बार मुझे खयाल आ रहा था कि खिड़कीका पल्ला उसी समय क्यों टूटा ? दो मिनट पहले क्यों नहीं टूटा, पाँच मिनट बाद ही क्यों नहीं टूटा ? मैंने अनुभव किया, जीवनमें पहली बार मुझे ईश्वरका संकेत मिला है, उनका स्पर्श मिला है; मैं उनकी असीम कृपाका पात्र बना हूँ।

योगक्षेमं वहाम्यहम्

[सत्य घटना]

(लेखक—आचार्य श्रीरमाकान्तजी 'कपिध्वज' एम० ए०)

'आखिर आप चाहते क्या हैं ?' काशीरामने भौंह सिकोड़ते हुए कहा।

'मुझे आप आठ सौ रुपये कर्ज दे दीजिये।' नीचा सिर किये हुए नर्मदाप्रसादने उत्तर दिया। काशीरामको इन शब्दोंसे प्रसन्नता हुई। वह यही चाह रहा था कि किसी तरह लालाजी फंदेमें फँस जायँ। काशीराम उनकी मालगुजारीकी दो आनेकी पट्टी तथा जमीन हड़पना चाहता था। अपने सिरपर हाथ रखते हुए और कुछ विशेष प्रकारकी भावमुद्रा बनाकर वह बोला—

'देखो भाई! इस समय मेरे पास भी रुपयोंकी कमी है। कुछ दिन पहले आप पाँच सौ रुपये ले गये थे। उनसे आपका काम नहीं हुआ। मेरे पास इस समय रुपये नहीं हैं।'

काशीरामके इन शब्दोंको सुनकर नर्मदाप्रसाद हक्के-बक्के-से खड़े रह गये। उन्हें यह विश्वास ही नहीं था कि काशीराम ऐसा उत्तर देगा। इतनेपर भी वे गिड़गिड़ाकर बोले—'देखो भैया! आपको यह मालूम है कि अभी श्रीमहावीरजीके मन्दिर बननेका कार्य पूरा नहीं हुआ है। इसीलिये मुझे रुपयोंकी जरूरत है।'

काशीरामने उत्तर दिया—'आप मन्दिरके चक्करमें पड़कर क्यों बरबाद हो रहे हो। यह काम तो रुपये-पैसेवालोंका है।'

लालाजीने उत्तर दिया—'सब कुछ प्रभु करेंगे। आप तो मुझे रुपये दे दीजिये। मैं रुपये समयपर अदा कर दूँगा। भगवान् अपने भक्तोंकी लाज बचाते आये हैं। मेरी भी लाज बचायेंगे।' यह उत्तर सुनकर काशीरामको इस अन्धविश्वासपर हँसी आ गयी। वह बोला—'पण्डितोंकी झूठी बातोंपर विश्वास कर आप क्यों बरबाद हो रहे हैं? मनुष्यको अपना भला-बुरा स्वयं सोचना चाहिये। भगवान् किसीकी सहायता नहीं करते हैं। सब लक्ष्मीका खेल है। पैसेकी कमी आनेपर कोई किसीको नहीं पूछता।'

लालाजी अपने भगवान्‌के विषयमें इन बातोंको सुनकर बोले—'ऐसा न कहिये। प्रभु सदा भक्तके साथ रहते हैं—

'जहाँ सक मेरे पैर धरत हैं, तहाँ धरूँ मैं हाथ।
पीछे-पीछे मैं फिरूँ, कभी न छोड़ूँ साथ॥'

काशीरामने अहंकारपूर्ण हँसीसे हँसते हुए कहा—'अच्छा तो आपका कर्ज भगवान् अदा करेंगे, यह आपको विश्वास है?' उसने आगे कहा—'तो सुनो मैं रुपये देनेको तैयार हूँ। पर एक शर्तपर।' लालाजीने तपाकसे उत्तर दिया—'मैं आपकी जो भी शर्त हो, उसे माननेको तैयार हूँ।'

काशीरामने कहा—'मेरे द्वारा लिये हुए पहले पाँच सौ रुपये और ये आठ सौ रुपये आपको एक मासके अंदर लौटा देने होंगे। यदि आप सूदसहित रुपये न लौटा सके तो आपकी सांगई ग्रामकी दो आनेकी मालगुजारीकी पट्टी एवं अड़ायसा ग्रामकी बारह एकड़ जमीन तथा घर और बाड़ा सब—इन रुपयोंमें मेरे हो जायँगे।'

इतना सुनकर लालाजीके पैरोंके नीचेकी जमीन खिसक गयी। वे घबरा गये। उन्हें कुछ कहनेका साहस ही नहीं हुआ।

काशीरामने कहा—'आप अपनी पूरी सम्पत्तिका बैनामा मेरे नाम रजिस्ट्री कर दीजिये। मैं आपको इकरारनामा लिख दूँगा कि "एक माहके अंदर आपने रुपये लौटा दिये तो मैं आपको समस्त सम्पत्ति वापस कर दूँगा।" यदि मेरी यह शर्त मंजूर है तो हाँ भर दो नहीं तो मना कर दो।'

लालाजीको इन शब्दोंसे बहुत दुःख हुआ, पर स्वीकार करनेके अतिरिक्त उनके पास कोई चारा ही नहीं था। उन्होंने काशीरामकी शर्त स्वीकार कर ली और सब कुछ तै हो गया।

× × ×

प्रकृतिका नियम कुछ विचित्र-सा है। अनादिकालसे प्रभु अपने भक्तकी परीक्षा लेते आये हैं—

'निर्मल मन जन सो मोहि पावा।
मोहि कपट छल छिद्र न भावा॥'

आज लालाजीके विश्वासकी भी परीक्षा हो रही थी। लाला नर्मदाप्रसाद एक गरीब व्यक्ति थे। कायस्थकुलमें जन्म लेनेके कारण वे बहुत बुद्धिमान् थे। उनके एक पुत्र था और चार पुत्रियाँ। उनकी माता तथा पत्नी भी उनके ही समान धर्मपरायणा थीं। सबको ईश्वरपर भरोसा था। पत्नीके गहने पहले ही बिक चुके थे। अब कर्जके रुपयोंसे मन्दिर बनानेका कार्य पूरा किया। मन्दिर बन चुका था।

दूसरे ही दिन श्रीमहावीर बजरंगबलीकी स्थापना नये मन्दिरमें की जानेवाली थी। लालाजीका मन इसी खुशीमें बाँसों उछल रहा था।

वे 'जय बजरंगबलीकी' रट लगाये प्रसन्नतापूर्वक सब कार्य कर रहे थे। उन्हें ध्यान ही नहीं था कि साहूकारकी रकम अदा करनेकी मियाद समाप्त होने जा रही है, केवल दो ही दिन शेष हैं। 'पवनतनय वीर बजरंगीकी' जय-

जयकारके अलावा उनके मुँहसे कोई भी शब्द नहीं निकल रहा था। प्रभुको मन्दिरमें पधरानेकी तैयारियाँ की जा रही थीं। ब्राह्मणोंके तथा समस्त लोगोंके भोजन कराये जानेका प्रबन्ध भी किया जा रहा था। कभी-कभी लालाजी आनन्द-विभोर होकर 'बजरंगबलीकी जय' कहते हुए नाचने भी लगते थे। गाँवके लोगोंको उनपर तरस आ रहा था। सब जानते थे कि यह पागल परसों साहूकारकी शर्तके अनुसार अपनी समस्त सम्पत्ति खोकर भिखारी हो जायगा, पर लालाजीके भावाधिक्यको देख कोई उनसे कुछ नहीं कह रहा था। सब लोग मन-ही-मन उनकी मूर्खतापर हँस रहे थे।

लालाजीकी पत्नीको मन्दिर बननेकी जितनी प्रसन्नता थी, सम्पत्ति जानेकी उतनी ही चिन्ता थी। वे सूखकर लकड़ी-की तरह हो गयी थीं। लालाजीने अपनी पत्नीकी यह हालत देखकर उनसे कहा—

'शुभ अवसरपर तुम अनमनी कैसे हो?' गोपी-बाईने उत्तर दिया—'मैं अनमनी तो नहीं हूँ, पर तुम्हें याद नहीं है कि परसों अपनी शर्तके अनुसार सारी सम्पत्ति साहूकारकी हो जायगी। फिर हमलोग क्या करेंगे? मुझे यही चिन्ता है।'

लालाजीको भी एक धक्का-सा लगा। उन्होंने यह स्वप्नमें भी नहीं सोचा था कि कर्ज-अदायगीका समय नजदीक आ गया है। वे साहूकारकी नीयतको भी जानते थे कि यदि एक घंटा बाद भी रुपये पहुँचे तो काशीराम उनकी सम्पत्ति वापस न करेगा।

सस्तेका जमाना; इतनी रकमकी अदायगी कैसे होगी? इतना सोचकर उनका हृदय काँप उठा और वे प्रभुके पावन नामका पवित्रोच्चार करते हुए बोले—'कल महावीरजीकी स्थापना करनेके बाद हम और तुम इस विषयपर चर्चा करेंगे।' गोपीबाईने कहा—'परसों तो रकम अदा होनी चाहिये, फिर विचार कब करेंगे?' 'जो होना होगा, वह होकर रहेगा। यदि हमारी सम्पत्ति चली जायगी तो इसमें भी प्रभुकी इच्छा निहित है। तुम चिन्ता न करो। ऐसा लालाजीने अपनी पत्नीसे कहा। पत्नी चुप थीं। उसकी आँखोंमें आँसू छलछलाने लगे। लालाजीने कहा—

दीन दयालु बिरिदु संभारी। हरहु नाथ मम संकट भारी॥

इस चौपाईका तुम जाप करती रहो—भगवान् कोई-न-कोई उपाय अवश्य करेंगे।' पत्नीको यह सब अच्छा तो नहीं लगा, पर वह पतिकी बात मानकर चौपाईका जाप करने लगी। लालाजी प्रसन्नतापूर्वक अपने कार्यमें जुट गये।

श्रीराघवेन्द्र सरकारके चरणकमलोंके अनन्य उपासक, श्रीलखनलालजीके लिये संजीवनी बूटी लानेवाले बजरंगबली मौन नहीं थे। भक्त और भगवान् दोनोंका कार्य अपने-अपने ढंगसे चल रहा था।

कुछ ही क्षणों बाद किसीके पुकारनेकी आवाज आयी। लालाजीने बाहर निकलकर देखा तो भोपाल शहरमें रहने-वाले मुंशी कन्हैयालालजी सामने खड़े थे। लालाजीने उनका यथोचित स्वागत किया। मुंशीजी बोले—"भैया! मैं कलके उत्सवमें शामिल न हो सकूँगा। मेरी छुट्टी समाप्त होनेवाली है। मैं आज ही भोपाल जा रहा हूँ। मेरा एक काम है; यदि आप 'हाँ' भर दें तो मैं आजन्म आपका आभारी रहूँगा।"

लालाजीने कहा—'कहिये क्या काम है?' कन्हैया-लालजीने एक-एक करके तेरह सौ चाँदीके कलदार रखते हुए कहा—'नदीके किनारे जो जमीन आपकी मालगुजारीकी सांगई ग्राममें पड़ी हुई है, आप उस दस एकड़ जमीनका पट्टा मुझे लिख दीजिये और मुझे अपना काश्तकार बना लीजिये। मैं इससे अधिक कुछ नहीं दे सकता।'

लाला नर्मदाप्रसादको मुंशीजीके शब्दोंपर विश्वास नहीं हो रहा था। वे सोच रहे थे कि 'कहीं मैं स्वप्न तो नहीं देख रहा हूँ?' वे चुप थे। मुंशीजीने उस चुप्पीका यह अर्थ लगाया कि 'वह रकम कम है।' वे बोले—

'मैं अपने बच्चोंके लिये अब जमीन खरीदना चाहता हूँ, इससे आप यह रकम स्वीकार कर लीजिये। मुझे अब समय नहीं है, मैं जाता हूँ।'

यह कहकर मुंशीजी चल दिये। लालाजीको यह होश ही नहीं था कि कब उन्होंने 'हाँ' भर दी और कब मुंशीजी चले गये।

गोपीबाईको जब यह पता चला तो वे अत्यन्त हर्षित हुईं। भगवान्ने उनकी प्रार्थना सुन ली। उन्होंने साहूकार काशीरामको मियादके एक दिन पहले ही रकम भिजवा दी।

दूसरे दिन श्रीमहावीरजीकी स्थापना बड़े धूम-धामसे मन्दिरमें की गयी। हजारों आदमियोंने भोजन किया। लाला-जी श्रीहनुमान्‌जीके मन्दिरके सामने—

'रघुपति राघव राजा राम। पतित पावन सीताराम॥'

—की ध्वनि लगाये नाच रहे थे!

(१)

भगवत्कृपा किसपर है ?

प्रिय महोदय ! सप्रेम हरिस्मरण ! आपका कृपापत्र मिला। भगवान्‌की कृपा सदा-सर्वत्र सबके लिये अनन्त है। जो जितना विश्वास करता है, उसको उतनी ही कृपाकी विशेष अनुभूति होती है। जिनके पास संसारके सुखैश्वर्य या भोगसामग्री अधिक है, उनपर भगवान्‌की विशेष कृपा है, ऐसी बात बिल्कुल नहीं है। कृपाका माप-तौल संसारके भोगपदार्थोंके अधिक होने या सर्वथा न होनेपर नहीं किया जा सकता, संसारके भोगोंकी प्राप्ति-अप्राप्ति या संसारके सुख-दुःख पूर्वकृत कर्मके फलस्वरूप प्रारब्धानुसार हुआ करते हैं। एक बड़ा संत प्रारब्धवश सांसारिक भोगदृष्टिसे अत्यन्त अभावग्रस्त रह सकता है और वर्तमानका एक महापापी राक्षस पदाधिकार-भोग-सुख-सम्पन्न हो सकता है। भगवत्कृपाका यथार्थ अनुभव होनेपर जीवन भगवान्‌के अनुगत होता है; उसमें भोगतृष्णा क्रमशः क्षीण होकर सर्वथा नष्ट हो जाती है; वह प्रत्येक स्थितिमें भगवान्‌की मङ्गलमयी कृपाके दर्शन कर क्षोभरहित, शान्तचित्त और प्रसन्न रहता है। इस दृष्टिसे भगवत्कृपा-प्राप्त संत सदा परम शान्ति-सुखका अनुभव करते हैं और बड़े-बड़े धनी-अधिकारी भोगासक्त पुरुष सदा अशान्ति तथा दुःखभोग करते हैं। आपने जिनके सम्बन्धमें लिखा है, वे अवश्य ही बाहरसे देखनेपर बहुत सुखी-सम्पन्न दिखायी देते हैं, पर कौन जानता है कि उनके अन्तरमें सदा-सर्वदा अशान्तिकी विशाल भट्ठी नहीं जल रही है। यह निश्चित ही है कि जहाँ कामना है, वहाँ अंदरकी ज्वाला कभी शान्त नहीं होती—यदि उन्हें अधिक भोगसामग्री मिलती है तो उनकी कामनाकी अग्नि और भी बढ़ती है—

बुझै न काम अगिनि तुलसी कहुँ बिषय भोग बहु घी तें।

अग्निमें ज्यों-ज्यों ईंधन तथा घृतकी आहुति पड़ती है, त्यों-ही-त्यों अग्नि भड़कती है और उतना ही अधिक संताप बढ़ता है। अतएव उनको भगवत्कृपाका अनुभव कहाँ है? भगवत्कृपाका अनुभव ही भगवत्कृपा है। अतएव आपकी यह धारणा गलत है कि जो इस समय धन-सम्पत्ति-सम्पन्न हैं, उनपर भगवान्‌की विशेष कृपा है। यों सामान्यरूपसे तो सभीपर सदा भगवत्कृपा रहती ही है। नरकके प्राणियोंको भी भगवान्‌की कृपा नरक-यन्त्रणा भुगताकर उन्हें कर्मबन्धनसे मुक्त करनेमें लगी रहती है। पर आप भगवत्कृपा उन्हींपर समझिये, जो भोगासक्त न होकर भगवद्भक्त हैं, जगत्‌के माया-ममता-मोहसे क्रमशः मुक्त होते हुए भगवान्‌के चरणोंकी प्रीतिके बन्धनमें बँधते जाते हैं, जिनका चित्त शान्त है, जिनकी इन्द्रियाँ भगवत्सेवामें लगी हैं और जिनका जीवन भगवान्‌के समर्पित हो गया है या होने जा रहा है। आप स्वस्थ और सानन्द होंगे। शेष भगवत्कृपा।

(२)

चार प्रकारके मनुष्य

प्रिय श्री······सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिला था। संसारमें चार प्रकारके मनुष्य हैं—(१) पामर, (२) विषयी, (३) साधक [जिज्ञासु या मुमुक्षु] और (४) सिद्ध [मुक्त या भगवत्प्राप्त]।

(१) पामर वे हैं—जो घोर विषयासक्त हैं; किसी भी प्रकारसे इच्छित भोगोंको प्राप्त करना और भोगना—ऐसी कामोपभोगपरायणता ही जिनके जीवनका स्वरूप है; काम-क्रोध-लोभादि जिनके स्वभावगत हैं, ऐसे विवेकरहित आसुरी सम्पदावाले तमोगुणप्रधान मनुष्य जो नये-नये दुष्कर्मोंमें ही जीवन खो देते हैं। इनका मनुष्यजन्म अनर्थोत्पादक ही होता है और मरनेके बाद ये आसुरी योनियाँ, नरक-यन्त्रणा और मानव-जीवन मिलनेपर भी प्रायः दुःख ही भोगते हैं।

(२) विषयी वे हैं, जिनका जीवन भोगोन्मुख है, पर जिनमें कुछ विवेक है। ऐसे लोग देवाराधन,

पूजापाठ, तीर्थ-व्रत, दान-भजन आदि सत्कार्य भी करते हैं और भरसक विवेकपूर्वक प्राप्त वैध भोगोंका ही सेवन करते हैं; पर इनके सारे सत्कार्योंका, भक्ति-उपासना आदिका भी उद्देश्य होता है—भोग-प्राप्ति ही, अतएव ये रजोगुणप्रधान मानव जीवनके असली लक्ष्य आत्मकल्याणका साधन नहीं करते। इनका मानव-जीवन भी व्यर्थ ही जाता है। दुर्लभ मानव-जीवनके लाभसे ये वञ्चित ही रह जाते हैं।

(३) साधक या मुमुक्षु अथवा जिज्ञासु वे हैं, जिनमें सत्त्वगुणकी प्रधानता होती है। ये मनुष्य-जीवनके असली उद्देश्यको जानकर उसीकी प्राप्तिके साधनमें लगे रहते हैं। इनमें भी मन्द और तीव्र प्रयत्न करनेवाले लोग होते हैं, पर इनके जीवनका उद्देश्य मोक्ष या भगवत्प्राप्ति होनेसे इनका जीवन सफल हो जाता है। कदाचित् इस जन्ममें कोई त्रुटि रह जाती है तो अगले मनुष्य-जीवनमें ये पूर्वाभ्यास-वश साधनमार्गमें अग्रसर होकर जीवनका लक्ष्य प्राप्त कर लेते हैं। ये ही 'योगभ्रष्ट' कहलाते हैं। इनमें ज्ञानमार्ग, भक्तिमार्ग, अष्टाङ्गयोग, निष्काम कर्मयोग आदि विभिन्न मार्गोंके साधक रहते हैं, पर उनकी रुचि तथा स्वभावमें अन्तर होनेपर भी वे सब दैवीसम्पदासम्पन्न होते हैं। इनका स्वभाव तथा व्यवहार-बर्ताव विषयी पुरुषोंसे विपरीत होता है। विषयी पुरुष जिन धन, मान, पद, अधिकार, इन्द्रियभोग आदिकी आसक्तिपूर्वक कामना करते हैं, ये उन सबका त्याग करके उसके विपरीत आचरण करते हैं। इनमें—खास करके भक्तिमार्गवालोंमें एक बड़ी बात होती है—इनका आदर्श दैन्य। यह दैन्य हीनभावना नहीं है। यह दैन्य सर्वत्र भगवद्दर्शन तथा देहाभिमानशून्यताके कारण होता है। श्रीमद्भागवतमें भगवान्‌ने उद्धवसे कहा है—'जब निरन्तर नर-नारीमात्रमें मेरी (भगवान्‌की) भावना की जाती है, तब थोड़े ही दिनोंमें साधकके चित्तसे स्पर्धा, ईर्ष्या, तिरस्कार और अहंकार आदि दोष नष्ट हो जाते हैं। अपने ही लोग चाहे हँसी करें, उनकी परवा न करके देह-दृष्टि तथा लोक-लज्जाको छोड़कर चाण्डाल, गौ, कुत्ते और गधेको भी पृथ्वीपर गिरकर साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम करे।' (स्क० ११ । २९ । १५-१६)

श्रीचैतन्य महाप्रभुको, जब वे गृहस्थमें 'निमाई पण्डित'के नामसे प्रसिद्ध थे, गङ्गा-स्नान करने जाते समय रास्तेमें सहसा एक ब्राह्मण-महिलाने हाथ जोड़कर उनकी चरणधूलि लेकर यह कह दिया कि 'निमाई! तुम भगवान् हो, मेरा उद्धार कर दो।' बस, अपने लिये एक सम्माननीया ब्राह्मणीके द्वारा 'भगवान्' शब्द सुनते ही इनको इतना दुःख हुआ कि ये प्राणत्यागके संकल्पसे दौड़कर गङ्गाजीमें कूद पड़े। बड़ी कठिनतासे निकाले गये। निकालनेपर भी अपनेको बड़ा अपराधी मानकर कई दिनोंतक रोते रहे। भक्त-साधकमें कितनी दीनता होनी चाहिये, इसकी सजीव शिक्षा इससे मिलती है। इसीसे कहा है—'सम्मानको घोर हलाहल विष और नीचापमानको अमृत समझे।' साधकमें इतना दैन्य होना चाहिये। इसी प्रकार अन्यान्य भोगोंसे भी विरक्ति होनी चाहिये। ऐसा साधक या मुमुक्षु अपने भावानुसार भगवत्प्रेम या कैवल्य-मोक्षको प्राप्त होता है।

(४) सिद्ध या मुक्त—भगवत्प्राप्त वे हैं, जो मानव-जीवनके परम तथा चरम लक्ष्य तत्त्वज्ञानको या भगवान्‌को प्राप्तकर तद्रूप हो चुके हैं। इन सिद्धपुरुषोंका स्वभाव सहज समतायुक्त है। मान-अपमान, स्तुति-निन्दा, प्रिय-अप्रिय, शुभ-अशुभ, मित्र-शत्रु, जीवन-मृत्यु सभीमें इनका समभाव रहता है। वास्तवमें इनकी अनुभूतिमें एक ब्रह्म, परमात्मा या भगवान्‌के सिवा अन्य कुछ भी रहता ही नहीं। यह अनुभूति भी कथनमात्र ही है—ये तो भगवत्स्वरूप ही होते हैं। तथापि इनके आचरण-व्यवहार-बर्ताव साधक-जीवनके अभ्यासानुसार सर्वथा विरक्तिपूर्ण तथा आदर्श कर्मनिष्ठायुक्त होते हैं। पर इनकी प्रत्येक चेष्टा होती है परम आदर्श तथा सहज लोककल्याणकारिणी।

आपके प्रश्नका यह संक्षिप्त उत्तर है। हम-लोगोंको चाहिये कि हम 'साधकका जीवन' अपने लिये आदर्श मानकर अपने-अपने साधनमार्गपर

निष्ठा तथा श्रद्धा-विश्वासके साथ दैवी-सम्पदाके गुणोंका अधिकाधिक अपनेमें विकास करते हुए अग्रसर होते रहें । शेष भगवत्कृपा ।

(३)

आपपर बड़ी भगवत्कृपा है

प्रिय बहिन ! सस्नेह हरिस्मरण ।

आपका पत्र मिला था । पढ़कर बड़ी प्रसन्नता हुई । आपपर भगवत्कृपा तो प्रत्यक्ष है ही, पूर्व-जन्मके शुभ संस्कार भी हैं, तभी आपके इतने कल्याणमय शुभ विचार हैं । आपकी सिनेमासे सख्त घृणा है और आप किसी भी गंदे साहित्यका स्पर्श भी नहीं करतीं, यह आजके युगमें बहुत बड़े सौभाग्यकी बात है । सबसे बड़ी चीज तो है—'एक क्षणके लिये भी प्रभुको न भूलनेकी इच्छा और भगवान्में निरन्तर मनकी संलग्नता और भगवान्की लीलाभूमिके प्रति मनका इतना आकर्षण ।' आपका घरमें मन नहीं लगता, किसी भी काम करनेकी इच्छा नहीं होती सो मन तो भगवान्में ही लगना चाहिये । पर घरसे बाहर जानेकी इच्छा नहीं होनी चाहिये । घर साधनके लिये जितना सुरक्षित है, उतना बाहरी स्थान नहीं । आजकल सभी जगह वातावरण प्रायः खराब है । घरका काम—भगवान्की पूजाके भावसे करना चाहिये । भगवान्ने गीतामें कहा है—'तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ।'—'अपने जिम्मेके कर्मका भलीभाँति आचरण करो, पर कहीं भी कर्म या कर्मफलमें आसक्ति न हो । (नाटकमें अभिनयकी तरह—खेल ठीक हो पर कहीं भी राग-द्वेष, ममता-मोह न हो) और कर्म करो यज्ञार्थ—भगवान्की सेवाके लिये ।' इस प्रकार भगवान्में प्रीति रखते हुए अनासक्तभावसे संसारमें वैध तथा प्राप्त कर्मोंका भगवत्सेवार्थ भगवत्स्मरण करते हुए ही सुचारुरूपसे सम्पादन करना चाहिये ।

आप 'कल्याण'के लिये चित्र बनाकर भेजना चाहती हैं, सो अवश्य भेजिये । एक बार देखनेके लिये एक-दो ही भेजिये ।

'कल्याण'के जो दो लेख आपको विशेष पसंद आये, सो वे वस्तुतः हैं भी बहुत सुन्दर । परंतु उनके लेखक अब उपरत हो गये हैं, लेख नहीं लिखते । इसलिये वैसे लेख नहीं छप रहे हैं; लाचारी है । आपका मन भगवान्में विशेषरूपसे विशुद्ध प्रेमभावसे लगा रहे और प्रेम उत्तरोत्तर बढ़ता रहे—यह श्रीभगवान्से प्रार्थना है । शेष भगवत्कृपा ।

(४)

प्रायश्चित्त

प्रिय महोदय ! सप्रेम हरिस्मरण ।

आपका पत्र मिला । आपके द्वारा क्रोधावेशमें एक बार माताजीपर हाथ उठाया गया तथा उन्हें कठोर वचन भी कहे गये सो यह निश्चय ही बहुत बुरा हुआ । पर आपको इससे इस समय घोर पश्चात्ताप हो रहा है, यह आपके लिखे शब्दोंसे प्रत्यक्ष प्रकट है । अपराध तो बन ही गया, वह तो अब वापस हो नहीं सकता । आपने माताजीसे क्षमा-प्रार्थना कर ली और जीवनमें फिर कभी ऐसा न करनेका निश्चय कर लिया, सो बहुत अच्छा किया । अब भी आपको इस अपराधके कारण जो भीषण जलन हो रही है और आप अपने जन्म तथा अस्तित्वको जिस तरह धिक्कार रहे तथा बुरे-से-बुरा फल भोगनेको प्रस्तुत हैं, इसके सिवा और आप क्या कर सकते हैं ? सच्चे हृदयका पश्चात्ताप, दीनभावसे अनन्य विश्वासयुक्त भगवान्की शरणागति समस्त पापोंका समूल नाश करनेवाली है । आपने गीताके जो तीन श्लोक लिखे हैं, इन्हींके अनुसार भगवत्कैंकर्यका जीवन बिताइये । भगवान्की कृपासे आप पाप-तापसे मुक्त हो जायँगे । निरन्तर भगवान्के स्मरणका अभ्यास करते हुए जीवनमें दैन्यभावका अवलम्बन करके सत्कर्मोंमें लगे रहिये । माताजी हों तो, अत्यन्त दीन होकर उनकी सब प्रकारसे यथासाध्य अधिक-से-अधिक सेवा कीजिये । शेष भगवत्कृपा ।

पढ़ो, समझो और करो

(१)

बूढ़े भैंसोंसे शिक्षा

मेरे यहाँ अन्य पशुधनके साथ दो भैंसे हैं, जो अब वृद्ध हो चुके हैं। मैंने सोचा कि ये वृद्ध भैंसे अब खेती एवं गाड़ीका कार्य नहीं कर सकेंगे, अतः इन्हें बाजारमें भेजकर बेच दिया जाय। दोनों भैंसे लोरमीसे पाँच मील दूर स्थित गोड़खाम्ही पशु-बिक्री-बाजारमें भिजवा दिये गये। उचित कीमत न मिलनेके कारण दोनों भैंसे बेचे नहीं गये और वापस आ गये। पीछे यह जानकर मुझे तथा मेरे परिवारके लोगोंको आश्चर्य हुआ कि दोनों भैंसोंने बाजारसे लौटनेके बाद चारा-घास-दाना खाना बंद कर दिया है। वे पानी भी नहीं पी रहे हैं। इसपर रोगका संदेह समझकर स्थानीय पशुचिकित्सक एवं पशुरोगोंके सभी जानकार लोगोंको दिखाया गया। सभीने कहा—'दोनों भैंसोंको किसी प्रकारका रोग नहीं है।'

मैं दूसरे दिन आवश्यक कार्यवश बिलासपुर चला गया। नौकरोंको कह गया कि 'दोनों भैंसोंका पूरा ध्यान रखना। उन्हें बराबर नदी ले जाकर नहलाना तथा दाना-घास-पानी देते रहना।'

चौथे दिन जब बिलासपुरसे वापस आया, तब नौकरने बताया कि 'जब नदी नहलाने ले जाता हूँ, तब भी पानी नहीं पीते, न हरी घास ही चरते। घरमें रोज दाना-घास-पानी उन्हें देता हूँ, पर दोनों छूतेतक नहीं।'

अब मैं बड़ा चिन्तित हो गया। चार दिनसे भूखे-प्यासे वृद्ध भैंसे कबतक टिकेंगे? जब घरमें भोजन करने बैठा था, तब मैंने भैंसोंका जिक्र अपनी धर्मपत्नीसे किया। इसपर धर्मपत्नीने यह कहकर मुझे चौंका दिया कि 'ऐसा तो न हो कि आपने उन्हें बेचनेके लिये बाजार भेज दिया था, इससे दुखी होकर दोनों वृद्ध प्राणियोंने आमरण अनशन करनेकी ठान ली हो।'

मुझे लगा—'मैं सचमुच अपराधी हूँ; मुझे ऐसा नहीं करना चाहिये था। बारह वर्षोंतक निरन्तर सेवामें लगे हुए भैंसोंको कुछ रुपयोंके लिये स्वार्थवश बेचना उचित नहीं है।'

अन्तमें पत्नीकी सलाहसे, हम दोनों, अपनी भूलका प्रायश्चित्त करने उस कोठेमें गये, जहाँ दोनों मूक असहाय भूखे-प्यासे प्राणी खड़े थे। हमलोगोंने वहाँ जाकर उनसे नम्र प्रार्थना की कि 'आपलोग हमारे इस अपराधको क्षमा कर दें। अब आपको नहीं बेचा जायगा। न अन्य किसी भी बूढ़े पशुको ही कभी बेचा जायगा। आप लोग कृपया भोजन करके हमारे उद्विग्न मनको शान्त कीजिये।' मैंने देखा, वे दोनों प्राणी हम दोनों पति-पत्नीके बार-बार प्रार्थना करनेपर सम्भवतः हमारी बात माननेको तैयार हो गये हैं। उन्होंने परस्पर एक-दूसरेको देखा और सामने रखे घासपर मुँह ले जाकर संकेत किया कि 'प्रार्थना स्वीकार कर लेते हैं।' मैंने निश्चय किया कि बूढ़े प्राणियोंको असमर्थ दशामें कभी बेचना नहीं चाहिये।

मैंने अपनी पत्नीको दो पवित्र थालोंमें भोजन लानेको कहा। वे ले आयीं और हम दोनोंने भोजनके थाल उनके सामने रखकर स्वीकार करनेके लिये पुनः विनीत प्रार्थना की। अब वे समझदार प्राणी हमें क्षमा करनेको तैयार दिखायी दिये और प्रार्थना सुननेके बाद एक साथ दोनों प्राणी पात्रोंके भोजनको खाने लगे। उस समय मेरी कैसी आनन्दपूर्ण दशा थी, व्यक्त नहीं कर सकता। इसके बाद हम दोनोंने कूँएसे जल निकालकर दाना तैयार कर उनके सामने रक्खा। आश्चर्य कि दोनोंने भरपेट दाना खाया, पानी पीया और इस तरह उनका आमरण अनशन-व्रत समाप्त हुआ तथा मेरे अपराधका प्रायश्चित्त हुआ। आज भी मेरे घरमें वे दोनों बूढ़े प्राणी जीवित हैं। मैंने उनके आरामके लिये विशेष व्यवस्था कर दी है।

—डा० रामकुमार शर्मा, लोरमी

(२)

कर्तव्यपरायणता

कुछ दिन पहले दुपहरके ३-५७ की 'अंधेरी लोकल ट्रेन' चर्चगेटसे छूटनेहीवाली थी कि इसी बीचमें एक सिंधी भाई आकर मेरी बगलमें बैठ गये। शामका अखबार बेचता हुआ फेरीवाला प्लेटफार्मपर आगे-पीछे चक्कर काटता हुआ जोरसे आवाज लगा रहा था। सिंधी भाई जेबमेंसे पंद्रह

पैसे निकालकर हाथमें ही उनसे खेल रहे थे। अखबार खरीदना है या नहीं, इसका वे निश्चय नहीं कर पा रहे थे। आखिर, ठीक गाड़ी छूटनेके समय उन्होंने अखबार खरीदनेका निश्चय किया और फेरीवालेको पुकारकर बुलाया। पैसे उसके हाथमें देकर 'इवनिंग न्यूज' की एक प्रति माँगी। तबतक गाड़ी छूट चुकी थी। जोर पकड़ती ट्रेनके साथ फेरीवालेने भी चाल तेज करते हुए एक अखबार निकालकर खिड़कीसे अंदर फेंकनेका प्रयत्न किया, पर भाग्यवश वह डिब्बेके अंदर न गिरकर प्लेटफार्मपर ही गिर गया। गाड़ीकी चाल अधिक तेज हो गयी थी, अतः फेरीवाला पीछे रह गया। गाड़ीके प्लेटफार्मसे बाहर निकलनेपर वे सिंधी भाई पश्चात्ताप करते हुए मेरे सामने रोना रोने लगे—'मेरे पंद्रह पैसे गये। मुझे अखबार खरीदना नहीं था, दुर्भाग्यवश मैंने खरीदना चाहा, पहले ही उसे पैसे दे दिये, पर उसने अखबार नहीं दिया।' मैंने कहा—'भाईसाहेब! इसमें उसका दोष नहीं है। आपने अखबार खरीदनेका निश्चय बहुत देरसे किया। गाड़ी छूट गयी थी, तब भी उसने तो अखबार फेंका ही, पर वह भीतर न गिरकर बाहर गिर पड़ा। अब भी आप चिन्ता न करें। यह तो बंबईका फेरीवाला है। रोज यहीं अखबार बेचकर उसे पैसे कमाकर पेट भरना है। आगामी कल वह आपको ढूँढ़कर आपके पैसे दे जायगा और यह भी सम्भव है कि वह कहीं इसी गाड़ीके किसी पीछेके डिब्बेमें चढ़ गया हो। ऐसा हुआ होगा तो मरीन लाइन्स स्टेशनपर आपको अखबार मिल जायगा।' 'अब मिल चुका!' रोषमें इतना कहकर वे भाई गुस्सेमें भरे बैठे रहे। इतनेमें 'मरीन लाइन्स' स्टेशन आ गया। गाड़ी रुकते ही तुरंत पिछले डिब्बेमेंसे आकर बुश शर्ट और फुलपेन्ट पहने एक सज्जन हमारे डिब्बेमें घुसे और "चर्चगेट स्टेशनपर यह 'इवनिंग न्यूज' अखबार किसका रह गया है',—अखबार दिखाकर यों पूछने लगे। मैंने कहा—'भाई! लाइये, ये मेरे बगलमें बैठे हुए भाई चर्चगेटपर अखबार खरीद रहे थे, तब वह बाहर गिर गया था।' उन सिंधी भाईको अखबार मिल गया और वे मुस्कराते हुए उसे पढ़ने लगे। आनेवाले सज्जनने खुलासा करते हुए बतलाया कि "अखबार नीचे गिर पड़ा, तब उसे वापस उठानेकी चिन्ता न करके उस फेरीवालेने चलती गाड़ीमें हमारे डिब्बेमें सवार होनेकी बड़ी कोशिश की, पर कंधेपर अखबारोंका बोझ बँधा रहनेके कारण वह चढ़ नहीं सका। तब उसने 'इवनिंग न्यूज'की एक प्रति निकालकर हमारे डिब्बेमें फेंक दी और हाथसे इशारा करके समझाया कि 'इसे अगले डिब्बेमें देना है।' मैं खिड़कीके पास बैठा था, अतएव अखबार मेरे हाथमें गिरा था। फेरीवालेका इशारा समझकर मैं यहाँ उसे देने आ गया।" 'आपका बड़ा आभार है'—यों कहकर मैंने उनको मेरे बगलमें बैठकर यात्रा करनेका आग्रह किया। गाड़ी चल चुकी थी और वे सज्जन 'मेरे बाल-बच्चे बगलके डिब्बेमें साथ हैं'—यों कहते हुए इतनी देरपर भी सिंधी भाईके मुखसे निकलनेवाले 'थैंक यू' शब्दोंके सुननेकी परवा न करके चलती ट्रेनमें उतरकर अपने डिब्बेमें चले गये। बिना ही खोले ज्यों-का-त्यों बंद अखबार हमारे डिब्बेमें दे जानेका कष्ट तथा जोखिम उठाकर सेवा करनेवाले इन सज्जनके प्रति मेरे मनमें उतने ही आदरभावका उदय हुआ, जितना उस गरीब फेरीवालेके प्रति उत्पन्न हुआ था।

—शांतिलाल बोले

'अखण्ड आनन्द'

(३)

मनुष्य सब भाई-भाई हैं, किसी भी कौमके हों

(आदर्श व्यवहार)

बात पंजाबसे भयभीत हिंदुओंके निकलनेके समयकी है। लाहौरसे पेशावर जानेवाली ट्रेन रवाना हुई। गाड़ीके पिछले डिब्बेके यात्री फाटकपर उतर गये। उस डिब्बेमें केवल एक लड़की और उसका छोटा भाई बच रहे। लड़कीका नाम गीता था। दोनों भाई-बहन आततायियोंके भयसे पाकिस्तानसे भारत आना चाहते थे। किंतु दैव-दुर्विपाकसे घबराहटमें काम उल्टा हो गया। वे पेशावर जानेवाली गाड़ीमें सवार हो गये। कुछ ही देर बाद घने जंगलमें गाड़ी रोक दी गयी। पठानोंके एक गिरोहने यात्रियोंपर धावा किया। कुछ तो धन-सामान लेकर चलते बने। एक क्रूर पठानकी नजर पड़ी गीता और उसके भाईपर। उसने अपने एक दोस्तको साथ ले गीता और उसके भाईको बेहोशीकी दवा सुँघाकर बेहोश कर दिया और गीताको कंधेपर लादकर वे उसी वनमें लापता हो गये।

'खान! बढ़िया माल है, देखोगे तो खुश हो जाओगे। पठानने राक्षसी हँसी हँसते हुए कहा।

'सच, तो फिर चलकर दिखा दो न, खुश कर दूँगा तुम्हें।'

'नहीं पहले लेन-देनकी बात तय हो जानी चाहिये।'

'अच्छा, तो तुम ही बोलो, क्या लोगे ?'

'नकद पाँच हजार।'

'क्या पागलपन करते हो! इस जमानेमें पाँच हजारमें तो पाँच सौ औरतें खरीदी जा सकती हैं। कुछ ठिकानेकी बात करो भई।'

'अच्छा, तो चार हजारसे कौड़ी कम नहीं।'

'अच्छा, मुझे मंजूर है; मगर पहले उसे दिखाओ तो।'

'यह ठीक; अरे हमीद! उसे ले आ। (गीताको देखकर) वाह बेटा!'

गीता चार हजारमें बूढ़े पठानके हाथ बेच दी गयी। लेकिन रातके वक्त वह किसी तरह वहाँसे निकल भागी। समीप ईपीके फकीरका स्थान रहता था। गीताने वहाँ जाकर चैन ली।

'बेटी! तुम कौन हो ?'

'पिताजी! मैं एक विपदामें पड़ी हुई हिंदू लड़की हूँ, आततायी पठान मुझे लेकर भागे और उन्होंने एक धनी पठानके हाथों मुझे बेच दिया। किसी तरह भागकर यहाँतक आयी हूँ। आप रक्षा करो।'

'फिकर न करो बेटी! हर कौममें कुछ नापाक इन्सान रहते हैं। मैं तुम्हें आज ही सैनिकोंके साथ भारत-सरकारके शरणार्थी कैम्पमें भिजवा दूँगा।'

'खान साहेब! आप मानवरूपमें फरिश्ते हैं। इस युगमें, जब कि इन्सानकी रग-रगमें खूनी जहर भरा है, आप हर कौमको अपना भाई समझते हैं।'

'हाँ, बेटी! हर इन्सान एक दूसरेका भाई है, चाहे वह किसी भी कौम या धर्मका हो। मेरा ज्ञान है कि सभी मनुष्य मनुष्यजातिके हैं। इसके सिवा और कुछ नहीं।'

'आप सचमुच फरिश्ते हैं। आपके विचार बहुत नेक हैं।'

गीताको सुरक्षित भारत भेज दिया गया बेटी-जैसे व्यवहारके साथ। धन्य।

—श्रीराम खरे

(४)

विचित्र, किंतु सत्य

मुझे यह जानकर हार्दिक प्रसन्नता हुई कि आजके इस अनाचार-भ्रष्टाचारके युगमें भी आदर्श ईमानदारोंका अभाव नहीं हो गया है। घटना इस प्रकार है—

२० अगस्तको लखनऊका एक व्यापारी किसी व्यापार-सम्बन्धी कार्यसे दिल्ली गया। उसी दिन सुबह सब्जी-मंडी (नयी दिल्ली) में एक टैक्सीपरसे उतरा और उतरते समय अपना एक थैला, जिसमें ४१७०) रुपये थे, छोड़ गया। टैक्सी ड्राइवर श्रीहरवंशसिंह सेठीने यह नहीं देखा कि बैग रक्खा है या नहीं; वह व्यापारीको उतारकर आगे बढ़ गया। जब उसने दूसरे यात्रीको बैठाया, तब देखा कि एक बैग रक्खा है। उसे देखकर उसने तुरंत टैक्सी वापस लौटायी और सब्जीमंडी जाकर व्यापारीको थियेटरके पास देखा। तुरंत ड्राइवरने टैक्सी रोकी और रुपयेका थैला व्यापारीको सौंप दिया। व्यापारीने बहुत खुश होकर ड्राइवरको उसकी ईमानदारीपर सौ रुपये इनाम दिया।

आज यदि विश्वका प्रत्येक व्यक्ति ईमानदार बने या बननेकी कोशिश करे और ईमानदार होनेकी चर्चा करे तो सारा दूषित वातावरण कालिख-जैसा धुलकर उज्ज्वल हो जाय और सारे विश्वमें विश्व-बन्धुत्वकी भावना जाग उठे। ('हिंदुस्तान टाइम्स', अगस्त २१)

—श्रीरामपाल शुक्ल, एम्० एस्-सी०, रसायन-अध्यापक, यू० पी० सैनिक स्कूल, लखनऊ

(५)

गो-माताकी सेवा और भगवन्नामका प्रभाव

यह बिल्कुल सत्य घटना है। कुछ ही समय पूर्वकी है। गो-सेवा और भगवन्नामके प्रभावसे असम्भव भी सम्भव हो सकता है, विधाताके कु-अङ्क भी बदल जाते हैं, यह घटना इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। पाठक श्रद्धा रक्खें और स्वयं श्रद्धापूर्वक इसकी परीक्षा करें; भगवान्‌की दयासे अवश्य लाभ होगा।

हमारे पड़ोसमें 'नाथालाल' नामक एक सज्जन रहते हैं। उनकी धर्मपत्नीको 'पीठकी हड्डीका टी० बी०' हो गया था। लगभग दो सालसे डॉक्टरोंका इलाज चालू था, परंतु कोई लाभ नहीं हुआ। हड्डीमें विशेष सड़ाँद फैलने लगी।

डॉक्टरोंने बतलाया कि 'इसका ऑपरेशन हो सकता है, लेकिन खतरा बहुत है । हड्डीको काटना पड़ेगा । उसमें रोगीका बचना मुश्किल है, इसलिये ऑपरेशनकी सलाह हम नहीं देते ।'

श्रीनाथालालके कुटुम्बमें निराशा छा गयी और बीमार बहिनको तो मौत सामने नाचती दीखने लगी । इसी चिन्तामें श्रीनाथालालका स्वास्थ्य भी बिगड़ने लगा । चार बच्चोंकी हालत भी अच्छी नहीं रही ।

आर्थिक स्थिति तो पहलेसे खराब थी । जो कुछ पासमें था, वह इलाजमें समाप्त हो चुका था । अब तो इस कुटुम्बका भविष्य अन्धकारमय हो गया । श्रीनाथालालको पत्नीके बचनेकी आशा बहुत ही कम रह गयी । पीछे चार बच्चोंका पालन कैसे होगा । श्रीनाथालालकी इस समयकी चिन्ताका अनुमान तो वही लगा सकता है, जो स्वयं इस स्थितिमें पहुँचा हो ।

मनुष्य जब अपने प्रयासमें निराश हो जाता है, तब उसके लिये एकमात्र श्रीभगवान्‌के चरणोंका ही सहारा रह जाता है और सौभाग्य होता है तो वह किसी तरह उसी ओर अग्रसर होता है ।

श्रीनाथालालको एक सज्जनने कहा—'भैया ! जहाँ दवा निष्फल हो जाती है, वहाँ श्रीभगवान्‌की दया और गो-माताकी दुआ संजीवनी बूटी बन जाती है । मैं अपने जीवनमें इसका बहुत अनुभव कर चुका हूँ । भगवान्‌की कृपासे तुम्हारे जीवनमें भी दुःखकी ज्वालाके स्थानमें वसंतकी बहार फैल सकती है ।

कलसे ही तुम इन नियमोंका पालन आरम्भ कर दो—

(१) प्रातःकाल उठते ही दातुन-कुल्ला करके अपनी शक्तिके अनुसार 'गुड़'के पाँच ढेले बनाकर पाँच गौओंको खिला देना । गो-माताको श्रद्धापूर्वक प्रणाम करना और अपनी मुसीबत दूर होनेके लिये कातर प्रार्थना करना ।

(२) घरके दरवाजेपर पत्थरकी कुंडीमें जल भरके रखना । उस जलको शहरमें फिरती हुई गौएँ और दूसरे प्राणी पीयेंगे । परंतु खयाल रखना, कुंडीमें पानी हर समय मौजूद रहे । ऐसा न हो कि पानी नहीं होनेसे एक भी गौ प्यासी वापस चली जाय ।

(३) तुम्हारा कुटुम्ब 'पुष्टि-सम्प्रदाय' का सेवक है और इस सम्प्रदायका मन्त्र 'श्रीकृष्णः शरणं मम' है । इस मन्त्रको तुम और तुम्हारी पत्नी निरन्तर जपते रहो । घरका काम करते हुए भी जप चालू रहे ।'

श्रीनाथालालने तीनों नियमोंका पालन श्रद्धापूर्वक स्वीकार किया और दूसरे ही दिनसे नियमोंका पालन शुरू कर दिया ।

भगवान्‌की कृपा और कामधेनु-गोमाताके आशीर्वादसे आठ ही दिनोंमें शुभ परिणाम दिखायी देने लगा । रोग कम होते-होते तीन महीनेमें रुपयेमें बारह आने कम हो गया ।

जिस रोगके मिटनेकी कोई सम्भावना नहीं थी । जीवनकी आशा टूट चुकी थी, वहाँ भगवान्‌की दयासे एक चमत्कार हो गया । आर्थिक स्थितिमें भी सुधार होने लगा । बच्चोंकी बीमारी भी दूर हो गयी । इस प्रकार श्रीभगवान् और गौ-माताकी कृपासे दुखी कुटुम्बने नूतन जीवन प्राप्त किया ।

नाथालालको अब पूर्ण विश्वास हो गया है और उन्होंने उपर्युक्त नियम जीवनपर्यन्त चालू रखनेका निश्चय किया है ।

'कल्याण' के पाठकोंसे मेरा नम्र निवेदन है कि मैं स्वयं अपने जीवनमें गौ-माताकी सेवा और भगवन्नाम-स्मरणका प्रत्यक्ष प्रभाव अनुभव करता रहा हूँ । आपसे भी विनती करता हूँ कि आप इसके ऊपर श्रद्धा रक्खें और गो-सेवा तथा भगवन्नाम-स्मरणको जीवनका प्रधान कर्तव्य बना लें । भगवान्‌की दयासे आपकी हरेक मुसीबत दूर होगी ।

—जादवजी खेराजभाई ठक्कर

(६)

श्रीरामरक्षा-स्तोत्रका विचित्र चमत्कार

घटना ३ सितम्बर, सन् १९७० की है । मैं अपने एक दूसरे मकानमें, जो स्थायी निवाससे लगभग चार फर्लांग दूर है, बैठा था कि मेरे बड़े भ्राता श्रीसूर्यबख्शसिंहजी आये और उन्होंने कहा कि 'घर चलो, अपनी भैंस जो अभी ३ । ४ दिन पूर्व ही ब्यायी थी और मूल्यमें लगभग १५००, की है, जो कम-से-कम दोनों समयमें दस सेर दूध देती है, अचानक चारा खाते-खाते गिर पड़ी है । मुँहमें चारा दबाये है, दाँत बैठ गये हैं, खुलते ही नहीं । तमाम परिवार बैठा रो रहा है ।' यह घटना प्रातः ४ बजेके लगभग हुई । मुझे पता शामको ४ बजे लगा । मैं भी रोता-पीटता घर पहुँचा । रात्रि निकट आ गयी; तमाम उपचार

हुए, पर सब व्यर्थ । डाक्टर-मवेशीको बुलानेका सुझाव आया, किंतु कुछ व्यक्तियोंने इसका विरोध करके कहा कि 'भगवान्‌के सहारे छोड़ दो ।' रातमें लगभग ९ बजे भैंस बेंड़ी हो गयी । उसकी जीभ बाहर निकल आयी और वह मरनेकी दशामें आ पहुँची । सब रो रहे थे । अचानक मुझे सूझा कि "मैं इसे 'श्रीरामरक्षा-स्तोत्र'का पाठ क्यों न सुनाऊँ, जिसका मैं नित्य पाठ करता हूँ ।" बस, मैं अचानक उछल पड़ा, न हाथ धोये, न पैर । वैसे ही भैंसके पास जाकर शोकाकुल अवस्थामें जोर-जोरसे पाठ करना आरम्भ कर दिया । मैं भूमिमें बेसुध-सा पड़ा था । पाठ चल रहा था और नेत्रोंसे आँसू बह रहे थे । अधिक-से-अधिक दो पाठ पूरे हुए या नहीं, ठीक याद नहीं आता—मेरे लड़केने मुझे उठा दिया और कहा—'भैंस उठकर बैठ गयी है ।' उसे एक पाखाना लगभग एक सेर फेना-सा गिरा और भैंस एक घंटेतक शान्तिभाव हो साधारणरूपसे बैठी रही । सिर्फ उठना चाहती थी, पर उठ नहीं पा रही थी । दो घंटे बाद रातको लगभग दस बजे वह उठी । पानी पिलाया गया । तीन बाल्टी पानी पिया और फिर चारा खाने लगी । अब पूर्ण स्वस्थ है । मैंने तत्काल अपने बच्चोंको श्रीभगवान् श्रीजानकीनाथजूकी विभूति लेने, जो मेरे यहाँसे लगभग ६० मील है, श्रीअयोध्याजी भेजा । ऐसा चमत्कार तो नहीं देखा गया । मैंने लगभग तीन वर्षसे 'रामरक्षा-स्तोत्र' मन्त्रको नियमानुसार नवरात्रमें सिद्ध करके पाठ कर रहा हूँ और उसका चमत्कारी प्रभाव आज आँखोंसे देखा । बोलो भगवान्‌की जय ।

(—बजरंगबलीसिंह मुख्तार, ग्राम कोटवा, पो० आ० खजुरों, जिला रायबरेली (उत्तर प्रदेश)

(७)

प्रेतत्वसे मुक्तिके लिये प्रेतका आग्रह

(आश्चर्यजनक घटना)

यह घटना सन् १९६६ की है । मध्यप्रदेशके अन्तर्गत बिलासपुर जिलाके छिरहुटी नामक ग्रामके निवासी साहूकार नामक एक सज्जन अन्य साथियोंके साथ बद्रिकाश्रम दर्शन करने जा रहे थे; यात्राके बीच जब वे सब लोग तीसरी चट्टीपर रात हो जानेसे विश्राम कर रहे थे कि एक विचित्र घटनाने उन्हें चौंका दिया । अकस्मात् एक छायाने उपस्थित होकर कहा—'साहूकार ! मैं तुम्हारा शिमगामें रहनेवाला साला हूँ, जब बदरीनाथ यात्राके लिये तुम घरसे निकले थे, तब मैं तुम्हारे पास जीवित उपस्थित था, पर अब मैं मर चुका हूँ । मेरी मृत्युका आज तीसरा दिन है । मैं प्रेतयोनिमें भटक रहा हूँ । अतः जब यहाँसे लौटो तो मुझे प्रेतयोनिसे मुक्ति दिलानेके लिये गयाजी जाकर प्रेतकर्म जरूर करवा देना, यह मेरी प्रार्थना है । प्रेतकर्ममें जो खर्च होगा, वह वापस लौटनेपर जाकर मेरे घरवालोंसे ले लेना ।'

इसपर साहूकार तथा उपस्थित सभी लोग पहले तो भयभीत हुए, पर छायाके अदृश्य हो जानेके बाद सबने सोचा कि, आत्मा यदि प्रेतयोनि पाकर दुखी है तो उसके उद्धारके लिये कर्म करा देना बड़ा पुण्यकार्य होगा । साहूकार आश्चर्यचकित था । जब शिमगावाला साला मुझे बिदा करने मेरे घर आया था, तब जीवित था और पूर्ण स्वस्थ था ।

पर सबने यही निर्णय किया कि इतनी दूरसे 'सत्य क्या है', जाना नहीं जा सकता, अतः वापस लौटते वक्त गयाजी जाकर प्रेतकर्म अवश्य करा देना उचित ही होगा ।

इसीके अनुसार बद्रिकाश्रम-दर्शनके बाद, वे सब लोग लौटकर गयाजी गये । साहूकारने अपने सालाके नामपर प्रेतयोनिसे मुक्ति होनेके लिये सम्पूर्ण कर्म विधि-विधानसे करा दिये ।

जब सब लोग अपने गाँवपर आये, तब पता लगा कि उसके मरनेकी बात सत्य थी । सम्पूर्ण ग्रामके नागरिक और परिवारके लोग घटना सुनकर आश्चर्यचकित हो गये ।

प्रेतात्माकी सत्यताके विषयमें विभिन्न मत-मतान्तर हैं, पर प्रेतयोनिसे मुक्ति दिलानेके लिये प्रेतकर्म कराना कितना आवश्यक है तथा सत्य है । इस सत्यताको सभी लोगोंने एक मतसे स्वीकार किया । तब उक्त साहूकार एवं अन्य साथी यात्रियोंने शपथपूर्वक प्रेतात्मासे हुई बातचीतका पूरा प्रसङ्ग सुनाया ।

—रामकुमार शर्मा

(८)

जीवनकी बाजी

मैसूर राज्यमें कावेरी नदीपर 'कृष्णराजसागर' बाँधका काम भारतके महान् इंजिनियर श्रीविश्वेश्वरैयाकी देखरेखमें चल रहा था ।

ई० स० १९५१ के जून महीनेकी २७वीं तारीखको बाँधका काम खूब जोरसे चल रहा था कि अकस्मात् एक बड़ा संकट आ पड़ा। कावेरीमें भारी बाढ़ आ गयी और बाढ़का जल किनारा छोड़कर चारों ओर बहने लगा। देखते ही देखते जल बहुत बढ़ गया। बाँध जितना बँधा था, अब सिर्फ उसके केवल दो फुट नीचे ही पानी रह गया। यदि यह दो फुट जल और बढ़ जाय तो अबतकका बँधा सारा बाँध जलमें डूब जाय और लाखों रुपयेका नुकसान हो जाय। ऐसा विकट समय था कि साधारण मनुष्यकी तो विचार करनेकी शक्ति गुम हो जाती। पर विश्वेश्वरैया सहज ही डिगनेवाले नहीं थे। उन्होंने अपने नीचे काम करनेवाले सब इंजिनियरोंको बुला लिया। उन इंजिनियरोंके पास ज्ञान था, उछलते खूनका जोश था और समयपर जीवनकी बाजी लगा देनेकी तैयारी भी थी; परंतु अबतक वे अनुभवकी निहाई-पर कुट-पिटकर तैयार नहीं हो पाये थे।

उस जमानेमें बाँधके काममें बड़ी-बड़ी मशीनोंका उपयोग नहीं होता था। देशमें स्वयंचालित यन्त्रोंका विस्तार भी नहीं हुआ था। सब काम मजदूर हाथोंसे करते थे।

बाँधके काममें दस हजार मजदूर काममें लगाये गये थे। ये हजारों हाथ अपनी-अपनी शक्तिके अनुसार रात-दिन मेहनत करके बाँधकी ऊँचाईको एक-एक इंच बढ़ा रहे थे। अकस्मात् सब मजदूरोंको सावधान कर दिया गया। उन्हें जोखिमकी सूचना दे दी गयी। यदि कावेरीका जल बढ़ता ही गया तो उनके प्राण संकट-में आ सकते हैं। उनके बच्चों और स्त्रियोंको सुरक्षित स्थानोंमें हटा दिया गया। बाँधके चाहे जब टूट जानेकी सम्भावना थी। चारों ओर भयका साम्राज्य छाया था। सबके प्राण तालूपर आ चिपके थे।

इंजिनियरोंके इशारेके अनुसार हाथोंमें बत्ती लिये ऐसी भयानक रात्रिमें भी मजदूर बाँधको बचानेके लिये जीतोड़ परिश्रम कर रहे थे; क्योंकि सबके हृदयमें बहने-वाला मानवताका झरना अभीतक सूख नहीं गया था। हजारों मनुष्य, गूँगे पशु, मनुष्योंकी सम्पत्ति, मकान, गाँव, खेती, मालमत्ता—सबको बह जानेसे बचा ही लेना है—यह बात सबके मनमें थी। परंतु जलके वेगको कैसे कम किया जा सकता है, इसका उपाय किसीको सूझ नहीं रहा था। प्रतिक्षण भय बढ़ा जा रहा था, जोखिम बढ़ रहा था।

'बाँधके तलेमें रक्खे दरवाजे यदि खोल दिये जायँ तो जलका वेग कम हो जायगा और बाँधपर पड़ने-वाला दबाव भी घट जायगा।' एक इंजिनियरने यह सूचित किया।

कुछ क्षण सोचनेके बाद सभीने इसका समर्थन किया, परंतु बाँधके एकदम नीचे जाकर दरवाजे खोले कौन? खुद अपने ही हाथों अपनी मौतको कौन वरण करनेको तैयार हो? सब एक दूसरेकी ओर देखने लगे। इतनेमें मानवताकी पुकार सुनकर एक मजबूत शरीर-वाला नौजवान सामने आया। उसने एक धोती और सादी कमीज पहन रक्खी थी। नौजवान विश्वेश्वरैयाके सामने आकर खड़ा रह गया। उसने दृढ़ताके साथ कहा—'मुझे हुक्म दीजिये। मैं जरूर दरवाजे खोल सकूँगा। मुझे सहज ही डर नहीं लग रहा है।' पर ऐसा हुक्म देनेके लिये अपने होठोंको खोलना दरवाजा खोलने-जितना ही विकट काम था।

प्राणोंकी बाजी लगाकर आगे आनेवाला नौजवान जितना साहसी था, उतना ही बुद्धिमान् भी था। ऐसे विकट समयमें कहीं आदेशकी राह देखी जाती है? उस साहसी युवकने अपने कपड़े उतारे और उन्हें किनारेपर फेंककर वह दौड़ गया। अब तो उसके पीछे दूसरे नौ-दस जवान और दौड़ गये; कारण, बाँधके दरवाजे खोलनेका काम इकले-दुकलेके वशका नहीं था।

युवकने बाँधका दरवाजा खोलना शुरू किया। चाहे जिस क्षण बाँध टूटनेका भय सिरपर झूल रहा था। बाँध टूटता है तो जलके प्रचण्ड प्रवाहके साथ उस युवकका बह जाना भी निश्चित-सा ही है। इतनेपर भी मानवताकी पुकार सुनकर साहस करनेवाला वह 'मरजीवा' नौजवान ऐसा नहीं था, जिसका मन जरा भी डिग जाय।

आखिर, कावेरी नदीने भी इस साहसी त्यागी नौजवान-के साहसके सामने सिर झुका दिया। दरवाजे खुले और खुलते ही कावेरीके जलका वेग धीरे-धीरे घटने लगा।

हजारों लोगोंके जान-मालकी अमूल्य सम्पत्तिको बचाने-

के लिये जीवनकी बाजी लगाकर खेलनेवाले यह 'मरजीवा' थे,—वहाँके मेकेनिकल इंजिनियर श्रीभालचन्द्र पंत केतकर। (अखण्ड आनन्द) —रश्मिन् महेता

(९)

कुछ अनुभूत प्रयोग

(१)

मृगीकी दवा

निम्नलिखित नुस्खेको आयुर्वेदमें 'सारस्वत-चूर्ण' कहा जाता है। यह छात्रोंके लिये बुद्धिवर्धक भी है।

बालवच, अश्वगन्ध, शतावर, ब्राह्मी, शंखपुष्पी, गुर्चका सत्त, बेरकी गुठलीकी मींगी, पेठेका छिलका, सफेद चन्दनका बुरादा और ओदे सलीव—दसों चीजें तीन-तीन तोले या सम मात्रामें कम-ज्यादा लेकर कूटकर कपड़ेसे छान लें। चूर्ण तैयार हो जायगा। एक चम्मच चूर्ण एक चम्मच ब्राह्मीघृतके साथ मिलाकर दिनमें चार बार सेवन करे। ब्राह्मीघृत आयुर्वेदिक दवाकी दूकानोंपर मिल जाता है, न मिले तो गायका घृत लिया जा सकता है। दो-तीन मासतक सेवन करनेपर मृगीका रोग पूर्णतया मिट जाता है।

रोगीका पेट साफ रहे, इसलिये ५-६ दिनपर एक बार त्रिफलाचूर्ण देकर रेचन करवा दिया जाय। यह बहुत बारकी परीक्षित ओषधि है। यह स्मरणशक्ति बढ़ानेमें, अन्य प्रकारके स्नायुरोगोंमें तथा पागलपन मिटानेमें भी उपयोगी है।

—श्रीप्रेमशंकर त्रिवेदी, कला-प्रवक्ता, महात्मा गांधी इ० कालेज, सफीपुर (उन्नाव—उ० प्र०)

(२)

जलना (Burning)

यह एक सामान्य घटनामूलक-पीड़ा है। यह किसी भी समय शरीरके किसी भी भागपर हो जाता है। कभी-कभी तो बड़े-बड़े फफोले भी उठ आते हैं, जिनका फोड़ना या फूट जाना एक लंबे समयके लिये पीड़ा मोल लेना है।

इस प्रयोगसे फफोले न फूटते हैं, न बढ़ते हैं, अपितु बैठ जाते हैं। सबसे बढ़कर विशेषता यह है कि फफोलेंके फूट जानेपर वहाँ किसी प्रकारका निशान भी नहीं रहता, यदि इसको निरन्तर प्रयोगमें लिया जाय।

मकान पोतनेकी कलईके टाँटे (Stone pieces) लीजिये। उन्हें एक मिट्टीके कोरे कलश (मटका) में आवश्यकतानुसार पानी डालकर रख दीजिये। पानीमें टाँटे पिघलकर गल जायँगे। सारे टाँटे गलकर नीचे बैठ जायँगे और ऊपर पानी नितर आयगा। इस समय पानीका रंग कुछ-कुछ दूधिया हो जायगा। यदि सर्दी है तो तिल्ली-का तेल और गरमी है तो सरसोंका शुद्ध तेल उतना ही लें, जितना पानी हो। कलई भिगोये पात्रमेंसे पानी नितारकर एक अलग स्वच्छ बोतलमें भर लें। इसीमें ऋतुके अनुसार तेल मिला दें। १५ मिनिट बाद बोतलको हिलाइये। पानी और तेल मिलकर कुछ पीलापन लिये घोल-सा बन जायेगा।

बस, दवा तैयार है। मोरपंखसे जले हुए स्थानपर दिनमें ४-५ बार लगाइये। मोरपंख न हो तो एक सींकमें रूई लगाकर भी प्रयोग किया जा सकता है। वर्षा ऋतुमें दोनोंमेंसे कैसा ही तेल काममें लिया जा सकता है।

यह प्रयोग अनुभूत है और बहुत उपयोगी सिद्ध हुआ है। इसपर रूई आदि लगाकर पट्टी लगाना निषिद्ध है।

(३)

दाद

साधारणतया बारह महीनेके दादको तो समाप्त करने-के लिये यह रामबाण है ही, पुराने दादोंमें भी इससे आराम अवश्य मिलता है।

गायकी शुद्ध लौनी (नवनीत) को काँसीकी थालीमें कम-से-कम एक सौ बार मीठे पानीसे धो लीजिये। प्रत्येक बार हथेलीसे पानीमें घीको थालीमें घिसने और यह समझकर कि प्रत्येक बार ही घीके कण-कणमें पानी पहुँच गया है, पानीको फेंक दीजिये। इस प्रकार पूरे सौ बार किया जाय। इस धुले हुए घीको किसी चीनी या काँचके बरतन-में उतारकर रख लीजिये। सुबह-शाम सूर्योदय और सूर्यास्तके समय दादपर अपनी अँगुलीसे लगाकर मलिये। ईश्वरकी कृपासे अवश्य ही लाभ होगा।

यथाशक्य नमक, मिर्ची खानेमें कम कर दीजिये। यह कोई परहेज नहीं, लेकिन दादके पीड़ाकालमें इन्हें कम खानेसे शीघ्र लाभ पहुँचता है।

(४)

आधाशीशी-लेप

(क) मुर्गीकी बीट और काली मिर्च बराबर भाग

लेकर पीस लीजिये । यदि दर्द बायीं ओर हो तो दायीं ओर लेप कीजिये और दर्द दायीं ओर हो तो ललाटपर बायीं ओर लेप कीजिये । तीन दिनमें ही निश्चित लाभ होगा ।

(ख) जंगली कबूतरकी बीट और राई समान भाग लेकर पीस लीजिये । जिस तरफ दर्द हो, उसी तरफ ललाट-पर सूर्योदय होते ही लेप करनेसे पुरानी आधाशीशीमें भी ईश्वरकृपासे अवश्य सदाके लिये लाभ होगा ।

—बाबूलाल अग्रवाल, एम्० ए०, बी० एड०, हिंदी-साहित्य-सदन, सिकराय (जयपुर) (राज०)

(ख)

आधाशीशीका यन्त्र
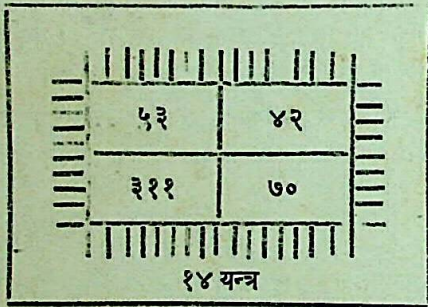
सफेद कागजपर इस प्रकार यन्त्र बनाकर चारों ओर ५३ रेखा खींचकर कागज (यन्त्र) मोड़कर उसे सफेद और काले धागेसे बाँधकर, धूप देकर जिस तरफ दर्द हो, उसी ओरके भागके कानमें या सिरके बालोंमें सूर्य उदयसे पहिले महावीर बजरंगबलीका नाम लेकर बाँध दे । पहिले दिन कुछ दर्द रहेगा, पर दूसरे दिन एकदम चला जायगा ।

—नवलकिशोर रामदुलारेप्रसाद अवस्थी, मु० विनोरा, पो० हिर्री, जि० बालाघाट ।

(५)

गुदभ्रंश, काँच निकलना (Prolapsus Ani)

पाखाना जाते समय गुदाका भीतरी भाग (काँच) बाहर निकल आता है । इससे रोगीको बहुत कष्ट होता है । यह रोग बच्चोंको अधिक होता है । इसमें गूँदी वृक्षकी पतली जड़ किसी भी मङ्गलवारको रोगीकी कमरमें बाँध देनेसे आशातीत लाभ हो जाता है । लाभ होनेपर हनुमान्‌जीको सिन्दूर चढ़ाना चाहिये और हनुमान्‌जीके पास अगरबत्ती लगानी चाहिये । परीक्षित है ! —वैद्य हरिश्चन्द्र परमार

(६)

अर्श—बवासीरनाशक योग

मुझको यह रोग हो गया था । मैंने नीचे लिखा प्रयोग किया, उससे बहुत लाभ हुआ । बवासीर—अर्शके रोगी इसका प्रयोग करके लाभ उठावें—

नीमकी निंबोलीके अंदरकी मींगी २१ दाने तथा इसीके समान काली मिर्च २१ नग । दोनोंको पीसकर गोली बना ले और जलके साथ निगल जाय । कुछ ही दिनोंके प्रयोगसे मस्से मिट जायँगे । जलन बंद हो जायगी । रोग घटनेके साथ-साथ दवाकी मात्रा कम कर सकते हैं । तेल, खटाई, गुड़, लाल मिर्च, अरुई, भिंडी, उड़दकी दालका सेवन न करें तो अच्छा है ।

—गोविन्दराव रामचन्द्रराव गर्दे, रिटायर्ड नायब तहसीलदार, देवगढ़ पो० केलारस (मुरेना) म० प्र०

प्रभुका प्यार कौन प्राप्त करता है ?

राह पड़े सूखे तृणसे भी जो समझे नित निजको नीच ।
जिसको हो संकोच बैठते महिमामय गुणियोंके बीच ॥
तरुवत् सहनशील हो, नीरव सहे शीत, वर्षा औ घाम ।
पत्थर फैंक मारनेवालोंको दे मीठे जामुन-आम ॥
कट-छिद-जलकर भी स्वाभाविक ही जो करे सहज उपकार ।
कीर्तन करे सदा—ऐसा जो, प्राप्त करे वह प्रभुका प्यार ॥

'कल्याण'के प्राप्य विशेषाङ्क

(१) ३७वें वर्षका—संक्षिप्त ब्रह्मवैवर्त-पुराणाङ्क—पृष्ठ-संख्या ६८२, बहुरंगे चित्र १७, दोरंगा १, इकरंगे ६, रेखाचित्र १२०, मूल्य ७.५०

(२) ४०वें वर्षका धर्माङ्क—पृष्ठ-संख्या ७००, बहुरंगे चित्र १४, दोरंगा १, सादा ४, रेखाचित्र ८१, मूल्य ७.५०, सजिल्द ८.७५

(३) ४१वें वर्षका—श्रीरामवचनामृताङ्क—पृष्ठ-संख्या ७०४, बहुरंगे चित्र १४, दोरंगा १, रेखाचित्र ६४, मूल्य ८.५०, सजिल्द १०.००

(४) ४२वें वर्षका—उपासनाङ्क—पृष्ठ-संख्या ७००, बहुरंगे चित्र १६, दोरंगा १, रेखाचित्र ३४, यन्त्र तथा मुद्राएँ ८, मूल्य ९.००, सजिल्द १०.५०

(५) ४३वें वर्षका—परलोक और पुनर्जन्माङ्क—पृष्ठ-संख्या ६९६, बहुरंगे चित्र १९, दोरंगा २, सादे चित्र ५९, (११ मासिक अङ्कोंसहित) मू० ९.००, सजिल्द १०.५०

(६) ४४वें वर्षका—अग्निपुराण—गर्ग-संहिता-अङ्क—पृष्ठ-संख्या ७००, बहुरंगे चित्र १८, दोरंगा १, रेखाचित्र १९, मूल्य ९.००, सजिल्द १०.५०

डाक-व्यय सबमें हमारा होगा ।

व्यवस्थापक—'कल्याण', पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

गीता-दैनन्दिनी सन् १९७१ ई०

आकार २२×२९ बत्तीसपेजी, पृष्ठ-संख्या ४१६, मूल्य साधारण जिल्द ७५ पैसे, हाथ कघेके कपड़ेकी जिल्द ९० पैसे, डाकखर्च १.१५ पैसे। तीन अजिल्दका डाकखर्चसहित कुल ३.७५ पैसे।

इसमें हिंदी, अंग्रेजी, पंजाबी और नये भारतीय शक-संवत्की तिथियोंसहित पूरे वर्षमें दैनिक क्रमसे सम्पूर्ण श्रीमद्भगवद्गीता, तिथि, वार, घड़ी और नक्षत्रका संक्षिप्त पत्रक, अंग्रेजी तारीखोंका वार्षिक केलेण्डर, प्रार्थना, भगवान् श्रीरामके अमृतोपदेश, 'मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते', जितना समय बचा है, उसीमें भगवत्प्राप्ति हो सकती है, जीवनमें पालन करने योग्य गीताके सम्बन्धमें कुछ ज्ञातव्य बातें, नीति-वचनामृत, 'जो भजै भगवानु सयान सोई'—आदि सदुपदेश; कुछ जाननेयोग्य उपयोगी बातें—जैसे रेल-भाड़ा, डाक, तार, इन्कमटैक्स, मृत्युकर, माप-तौलकी नयी मेट्रिक प्रणाली, उनका तुलनात्मक परिवर्तन, कागजका माप, दैनिक वेतन और मकान-भाड़ा चुकानेका नक्शा; अनुभूत घरेलू दवाओंके प्रयोग, स्वास्थ्य-रक्षाके सप्त-सूत्र, ध्यान और आरती भी दी गयी है।

☞ गीता-दैनन्दिनीके विक्रेताओंको विशेष रियायत मिलती है। अतः यहाँ आर्डर देनेसे पहले अपने यहाँके पुस्तक-विक्रेतासे माँगिये। इससे आपके समय तथा भारी डाकखर्चकी बचत हो सकती है।

व्यवस्थापक—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

रजि० सं० एल्० १७५

श्रीहरिः

सम्मान्य एवं प्रेमी ग्राहकों और पाठकोंको सूचना तथा निवेदन

१. 'कल्याण'का यह ४४वें वर्षका दसवाँ अङ्क है। ग्यारहवाँ और बारहवाँ—ये दो अङ्क और निकल जानेपर यह वर्ष पूरा हो जायगा। ४५वें वर्षका प्रथम अङ्क सदाकी भाँति 'विशेषाङ्क' होगा। इसमें पिछले विशेषाङ्कमें प्रकाशित होनेके बाद बचे हुए 'अग्निपुराण'के १८३ अध्याय तथा 'गर्गसंहिता'के माहात्म्य-सहित ६६ अध्याय तो रहेंगे ही। 'कल्याण'के पाठकोंको रोचक तथा उपादेय एक नयी वस्तु और मिल जाय, इसलिये 'श्रीनरसिंह-पुराण' का अनुवाद भी देनेका निश्चय किया गया है। बचे हुए 'अग्निपुराण'के अंशमें बहुत-से अत्यन्त उपयोगी विषय हैं, 'गर्गसंहिता'में महाराजा उग्रसेनके अश्वमेध-पर्वकी कथा है, जिसमें भगवान् श्रीकृष्णकी लीलाके अत्यन्त रुचिकर तथा मधुर प्रसङ्ग हैं। दुबारा हुई रासलीलाका सुन्दर वर्णन है और 'श्रीनरसिंह-पुराण' में भगवान्‌की सुन्दर लीला-कथाओंके अतिरिक्त सृष्टिकी उत्पत्ति, अवतार, चरित्र आदिकी विशद कथाएँ हैं। बहुत-से कल्याणकारी मन्त्रों तथा पूजा-विधानोंका उपयोगी वर्णन है। स्थान-स्थानपर उपयोगी टिप्पणियाँ दी जायँगी। सुन्दर रंगीन तथा सादे चित्रोंकी भी व्यवस्था की जा रही है। यह अङ्क पिछले विशेषाङ्कसे विशेष उपयोगी तथा सुन्दर होगा।

२. गत वर्ष भी 'कल्याण'में बहुत घाटा था ही, इस वर्ष कागजोंका मूल्य, डाकखर्च, कर्मचारियोंका वेतन आदि बढ़ जानेसे खर्च बहुत अधिक बढ़ गया है। कागजकी कीमत और भी बढ़नेकी सम्भावना है। सब जोड़नेपर 'कल्याण'का लागत मूल्य बहुत अधिक होता है। परंतु मूल्यमें केवल रु० १.०० ही वार्षिक बढ़ाया जा रहा है—रु० ९.००के स्थानपर रु० १०.०० (दस रुपये) किये जा रहे हैं। ऐसा करनेपर घाटेमें कुछ कमी हो जायगी। 'कल्याण'-के सहृदय ग्राहक इसे सहर्ष स्वीकार करेंगे—यह विश्वास है। मनीआर्डर-फार्म इसके साथ भेजा जा रहा है। रुपये भेजते समय मनीआर्डरमें अपना नाम, पता, ग्राम या मुहल्ला, डाकघर, जिला, प्रदेश आदि साफ-साफ अक्षरोंमें लिखनेकी कृपा करें। ग्राहक-नम्बर जरूर लिखें। नये ग्राहक हों तो 'नया ग्राहक' लिखना न भूलें।

३. ग्राहक-संख्या न लिखनेसे आपका शुभ नाम नये ग्राहकोंमें लिखा जा सकता है। इससे विशेषाङ्ककी एक प्रति नये नम्बरोंसे तथा एक पुराने नम्बरोंसे वी० पी० द्वारा जा सकती है। यह भी सम्भव है कि आप उधरसे रुपये कुछ देरसे भेजें और पहले ही यहाँसे आपके नाम वी० पी० चली जाय। दोनों ही स्थितियोंमें आप कृपापूर्वक वी० पी० वापस न लौटाकर नये ग्राहक अवश्य बना दें और उनका नाम-पता साफ-साफ लिखनेकी कृपा करें। सभी ग्राहक-पाठक महानुभावोंसे तथा पाठिका-ग्राहिका देवियोंसे यह भी निवेदन है कि वे प्रयत्न करके 'कल्याण'के दो-दो नये ग्राहक बनाकर उनके रुपये मनीआर्डरद्वारा शीघ्र भिजवानेकी कृपा करें। इससे भगवान्‌की सेवा होगी।

४. जिन पुराने ग्राहकोंको किसी कारणवश ग्राहक न रहना हो, वे कृपापूर्वक एक कार्ड लिखकर अवश्य सूचना दे दें, जिससे व्यर्थ 'कल्याण-कार्यालय'को हानि न सहनी पड़े।

५. किसी कारणवश 'कल्याण' बंद हो जाय तो केवल 'विशेषाङ्क' और उसके बादके जितने अङ्क पहुँच जायँ, उन्हींमें पूरे वर्षका मूल्य समाप्त हुआ समझ लेना चाहिये; क्योंकि अकेले 'विशेषाङ्क'की ही लागत रु० १०.०० से अधिक है।

६. इस वर्ष भी सजिल्द अङ्क देनेमें कठिनता है और बहुत विलम्बसे दिये जानेकी सम्भावना है। यों सजिल्दका मूल्य रु० ११.५० है।

७. इस विशेषाङ्कमें स्थानाभावसे लेखन-सामग्री प्रायः नहीं रहेगी। अतः कोई सज्जन बिना माँगे लेख, कविता आदि कृपया न भेजें। विवशताके लिये क्षमा करें।

व्यवस्थापक—'कल्याण', पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)